

Acc. RT-979

2002
57

1945



110728

नागरीप्रचारिणी पत्रिका

वर्ष ५०—अंक १-२

[नवीन संस्करण] वैशाख-श्रावण—सं० २००२

अपभ्रंश भाषा और साहित्य

प्रो० हीरालाल जैन एम० ए०, एल-एल० बी०

(१) अपभ्रंश भाषा का उद्गम और प्रसार

१ प्राकृत का सबसे अंतिम स्वरूप हमें अपभ्रंश में दिखाई देता है। भारतीय आर्यभाषाओं के विकास में अपभ्रंश भाषा का इतिहास विशेष महत्त्वपूर्ण इस कारण भी है कि आजकल की प्रचलित देश-भाषाएँ, जैसे, हिंदी, गुजराती, मराठी, बंगाली आदि उसी से निकली या प्रभावित मानी जाती हैं। भाषा के संबंध में 'अपभ्रंश' शब्द का सबसे पुराना उल्लेख हमें महर्षि पतंजलि के महाभाष्य में मिलता है, जहाँ उन्होंने कहा है कि "अपशब्दों का उपदेश बहुत विस्तृत या व्यापक है, क्योंकि एक-एक शब्द के बहुत अपभ्रंश हैं; जैसे, एक गौ शब्द के गावी, गोणी, गोता, गोपोतलिका आदि बहुत अपभ्रंश होते हैं।" इससे ज्ञात होता है कि उस समय अपभ्रंश किसी भाषा-विशेष का नाम नहीं था, किंतु संस्कृत के विकृत

१—गरीयानपशब्दोपदेशः । एकैकस्य शब्दस्य बहवोऽपभ्रंशाः । तद्यथा गौरित्यस्य शब्दस्य गावी गोणी गोता गोपोतलिका इत्येवमादयो बहवोऽपभ्रंशाः ।

(पातंजल महाभाष्य १, १, १)

रूपों को ही अपभ्रंश कहते थे। इसके अनुसार संभवतः उस समय की पाली और प्राकृत भाषाएँ भी अपभ्रंश कही जाती रही होंगी।

१२ भरत मुनि ने अपने नाट्यशास्त्र में प्राकृत और देशी भाषाओं के संबंध में बहुत कुछ कहा है। उन्होंने वाक् अर्थात् वाणी का पाठ दो प्रकार का माना है—संस्कृत और प्राकृत। उन्होंने संस्कृत के ही विपर्यस्त और संस्कारगुणवर्जित पाठ को प्राकृत कहा है और प्राकृत में तीन प्रकार के शब्दों का प्रचलित होना स्वीकार किया है—समान (तत्सम), विभ्रष्ट (तद्भव) और देशी^१। उन्होंने देश और रूपों के प्रयोगानुसार भाषा के चार भेद किए हैं—अतिभाषा, आर्यभाषा, जातिभाषा और जात्यंतरी भाषा। इनमें से अतिभाषा देवों की और आर्यभाषा राजाओं की कही गई है, जो संस्कारपाठ्यसंयुक्त होती है। जात्यंतरी भाषा पशु-पक्षियों की बोली है^२। प्राकृत में विशेष विचारणीय है जातिभाषा जिसके आश्रित दो प्रकार के पाठ हैं—संस्कृत और प्राकृत, जो चारों वर्णों में पाए जाते हैं^३।

१—द्विविधं हि स्मृतं पाठ्यं संस्कृतं प्राकृतं तथा । (नाट्यशास्त्र १५, ५)

२—एतदेव विपर्यस्तं संस्कारगुणवर्जितम् ।

विज्ञेयं प्राकृतं पाठ्यं नानावस्थान्तरात्मकम् ।

त्रिविधं तच्चविज्ञेयं नाट्ययोगे समासतः ।

समानशब्दं विभ्रष्टं देशीगतमथापि च ॥ (वही १८, २-३)

३—भाषा चतुर्विधा ज्ञेया देशरूपप्रयोगतः ।

संस्कृतं प्राकृतं चैव यत्र पाठ्यं प्रयुज्यते ।

अतिभाषार्यभाषा च जातिभाषा तथैव च ।

तथा जात्यन्तरी चैव भाषा नाट्यप्रकीर्तिता ।

अतिभाषा तु देवानामार्यभाषा तु भूभुजाम् ।

संस्कारपाठ्यसंयुक्ता सम्यङ् न्यायप्रतिष्ठिता ।

अथ या जात्यन्तरीभाषा ग्राम्यारण्यपशूद्भवा ।

नाना विहगजा चैव नाट्यधर्मी प्रयोगतः ॥ (वही १८, २३-२७)

४—जातिभाषाश्रयं पाठ्यं द्विविधं समुदाहृतम् ।

प्राकृतं संस्कृतं चैव चातुर्वर्ण्यसमाश्रयम् ॥ (वही १८, २८)

अपभ्रंश भाषा और साहित्य

३

नाटक में उत्तम पात्र संस्कृत बोलें, किंतु यदि वे ऐश्वर्य से प्रमत्त और दृग्नि हो जायें तो प्राकृत बोलें। श्रमण, तपस्वी, भिक्षु, स्त्री, बालक, मत्त आदि सभी प्राकृत बोलें। नाटक में शौरसेनी भाषा का प्रयोग किया जाय या अपने इच्छानुसार किसी भी देशभाषा का, क्योंकि नाटक में ज्ञाना देशों में उत्पन्न हुए काव्य का प्रसंग आता है। ऐसी देशभाषाएँ सात हैं—मागधी, आवन्ती, प्राच्या, शौरसेनी, अर्धमागधी, बाह्लीका और दाक्षिणात्या। अंतःपुरजिवासियों के लिये मागधी; चेट, राजपुत्र और सेठों के लिये अर्धमागधी; विदूषकादिकों के लिये प्राच्या; नायिका और सखियों के लिये शौरसेनी से अविरोद्ध आवन्ती; योद्धा, नागरिक तथा जुआड़ियों के लिये दाक्षिणात्या और उदीच्य एवं खसों तथा शबर एवं शकों तथा उन्हीं जैसे स्वभाववालों के लिये उनकी देशी भाषा बाह्लीका उपयुक्त है। इनके अतिरिक्त शबर, आभीर, चांडाल, सचर, द्राविड़ और ओड़ू तथा वनचरों

१—धीरोद्धते धीरललिते धीरोदात्ते तथैव च ।

धीरप्रशान्ते च तथा पाठ्यं योज्यं तु संस्कृतम् ।

एषामेव तु सर्वेषां नायकानां प्रयोगतः ।

कारणव्यपदेशेन प्राकृतं संप्रयोजयेत् ।

ऐश्वर्येण प्रमत्तस्य दारिद्र्येण प्लुतस्य च ।

उत्तमस्यापि पठतः प्राकृतं संप्रयोजयेत् ।

व्याजलिङ्गप्रतिष्ठानां श्रमणानां तपस्विनाम् ।

भिक्षुचाष्टचराणां च प्राकृतं संप्रयोजयेत् ।

बाले ग्रहोपसृष्टे स्त्रीणां स्त्रीप्रकृतौ तथा ।

नीचे मत्ते सलिंगे च प्राकृतं पाठ्यमिष्यते ॥ (वही १८, २६-३३)

२—शौरसेनं समाश्रित्य भाषा कार्या तु नाटके ।

अथवा छन्दतः कार्या देशभाषा प्रयोक्तृभिः ।

नानादेशसमुत्थं हि काव्यं भवति नाटके ।

मागध्यवन्तिजा प्राच्या शूरसेन्यर्धमागधी ।

बाह्लीका दाक्षिणात्या च सप्त भाषाः प्रकीर्तिताः ॥ (वही १८, ३४-३५)

की हीन भाषाएँ हैं जो विभाषा कहलाती हैं। पुलकसादि तथा अंगारकार, व्याध तथा लकड़ी-घास बेचनेवालों में शकार भाषा पांचाली का प्रयोग करना चाहिए। शबर भाषा का प्रयोग कुछ जंगली रूप से गज, अश्व, अज, ऊँट आदि रखनेवालों और घोष-स्थानों में रहनेवालों के लिये उपयुक्त है। विन्ध्य और सागर के बीच जो देश सुने जाते हैं उनमें जानकार को नकार-बहुला भाषा का प्रयोग करना चाहिए। आभीरों की उक्ति भी शाबरी होनी चाहिए एवं द्रविड़ादिकों की द्राविड़ी। गंगा और सागर के बीच जो देश कहे गए हैं उनमें जानकार एकार-बहुला भाषा का प्रयोग करे। सुराष्ट्र और अवंति देशों में तथा वेन्नवती के अंतर्वर्ती देशों में चकार-बहुला भाषा का प्रयोग किया जाय। हिमवत्, सिंधु, सौवीर तथा अन्य देशों के आश्रित लोगों में नित्य ही उकार-बहुला भाषा का प्रयोग करना चाहिए।

१—(वही १८, ३६-४२) । 'नाट्यशास्त्र' की बनारस से सन् १६२६ में प्रकाशित प्रति का मैंने उपयोग किया है, जिसमें प्रस्तुत अध्याय (अठारह) भर में श्लोकों के संख्याक्रम में गड़बड़ है। इसीसे कहीं कहीं प्रसंग समझने में भी कठिनाई होती है। पाठ की ऐसी ही अवस्था के कारण अर्थ के संबंध में मतभेद हो जाता है। (देखो कीथकृत संस्कृत नाटक पृष्ठ, ३३७) नाट्यशास्त्र के सुसंपादित किए जाने की बड़ी आवश्यकता है।

२—विन्ध्यसागरमध्ये तु ये देशाः श्रुतिमागताः ।

नकारबहुलां तेषु भाषां तज्ज्ञः प्रयोजयेत् ।

आभीरोक्तिः शाबरी स्यात् द्राविडी द्रविडादिषु ।

सुरंगवनकादीनां औष्ट्रिकानां च रक्षताम् ।

व्यसने नायिकादीनां आत्मरक्षासु मागधी ।

गंगासागरमध्ये तु ये देशाः संप्रकीर्तिताः ।

एकारबहुलां तेषु भाषां तज्ज्ञः प्रयोजयेत् ।

सुराष्ट्रावन्तिदेशेषु वेन्नवत्यन्तरेषु च ।

ये देशास्तेषु कुर्वीत चकारबहुलामिह ।

हिमवत्सिन्धुसौवीरान् येऽन्यदेशान् समाश्रिताः ।

उकारबहुलां तेषु नित्यं भाषां प्रयोजयेत् ॥ (वही १८, ४३-४८)

अपभ्रंश भाषा और साहित्य

५

१३ इस प्रकार भाषाओं की जो व्यवस्था नाट्यशास्त्र में की गई है वह बड़ी महत्त्वपूर्ण एवं अनेक दृष्टियों से विचारणीय है। किंतु यहाँ अपभ्रंश भाषा के अनुसंधान में हमें विशेष ध्यान इस बात पर देना है कि हिमालय से सिंधु तक के देशों में जो बोली नाट्यशास्त्रकार के मतानुसार प्रचलित थी उसमें उकार का प्रयोग विशेष रूप से होता था। समस्त प्राकृतों में अपभ्रंश भाषा ही ऐसी है जिसमें कर्ता और कर्म कारक की विभक्ति 'उ' होने से उकार का बाहुल्य पाया जाता है। अतएव अपभ्रंश का आदिम क्षेत्र हिमालय से सिंधु तक का पश्चिमोत्तर भारत देश ही सिद्ध होता है। पर नाट्यशास्त्रकार के समय तक उक्त उकार-बहुला भाषा केवल एक बोली थी, अभी साहित्यिक भाषा का रूप धारण नहीं कर पाई थी और न अपभ्रंश के नाम से विशेष प्रसिद्ध हो सकी थी। किंतु इसके पश्चात् के काल में इस भाषा ने बड़ी उन्नति की और इसका विकास यहाँ तक हो गया कि भामह और दंडी के समय (लगभग छठी-सातवीं शताब्दी) से पूर्व ही उसमें उत्कृष्ट गद्य और पद्य की रचना होने लगी; तभी तो इन साहित्यकारों ने संस्कृत और प्राकृत के साथ अपभ्रंश भाषा में भी गद्यपद्यात्मक काव्य-रचना का उल्लेख किया है। भामह की अपेक्षा दंडी ने अपभ्रंश के विषय में कुछ विशेष बहुमूल्य बातें बतलाई हैं। एक तो यह कि उस समय तक भी शास्त्रकार संस्कृत के सिवा अन्य सब भाषाओं को अपभ्रंश कहते थे,

१—शब्दार्थौ सहितौ काव्यं गद्यं पद्यं च तद्विधा ।

संस्कृतं प्राकृतं चान्यदपभ्रंश इति त्रिधा ॥

(भामहकृत काव्यालंकार १, ३६)

२—तदेतद्वाङ्मयं भूयः संस्कृतं प्राकृतं तथा ।

अपभ्रंशश्च मिश्रञ्चेत्याहुर्गार्याश्चतुर्विधम् ।

संस्कृतं नाम दैवी वागन्वाख्याता महर्षिभिः ।

तद्भवस्तत्समो देशीत्यनेकः प्राकृतक्रमः ।

आभीरादिगिरः काव्येष्वपभ्रंश इति स्मृताः ।

शास्त्रे तु संस्कृतादन्यदपभ्रंशतयोदितम् ॥ (काव्यादर्श १, ३२-३३, ३६)

जिसकी परंपरा पतंजलि से निरंतर चली आती सिद्ध होती है। दूसरी यह कि जिन भाषाओं ने उस समय तक अपभ्रंश के नाम से काव्य-क्षेत्र में प्रवेश पा लिया था वे आभीरादि जातियों की बोलियाँ थीं। आभीरों की बोली को नाट्यशास्त्रकार ने शाबरी कहा है। ऐसा अनुमान है कि आभीरों की शक्ति के विकास के साथ-साथ उनकी संस्कृति में भी उन्नति हुई और उनकी भाषा काव्य-क्षेत्र में प्रविष्ट हो गई। छठी शताब्दी के एक तात्त्रपट्ट में उल्लेख मिलता है कि वल्लभी के राजा गुहसेन (५५६-५६६ ईसवी) संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश तीनों भाषाओं में प्रबंध-रचना करने में निपुण थे^१। आठवीं शताब्दी तक अपभ्रंश काव्य ने इतना सौष्ठव प्राप्त कर लिया था कि उद्योतन सूरि अपनी कुवलयमाला कथा में (सं० ८३५ वि०) संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश की तुलना करते हुए कहते हैं—“संस्कृत अपने बड़े-बड़े समासों, निपातों, उपसर्गों, विभक्तियों और लिंगों की दुर्गमता के कारण दुर्जन-हृदय के समान विषम है। प्राकृत समस्त कला-कलापों के मालारूपी जलकल्लोलों से संकुल लोकवृत्तांतरूपी महोदधि महापुरुषों के मुख से निकली हुई अमृत-धारा का बिंदु-संदोह एवं एक-एक क्रम से वर्ण और पदों के संघटन से नाना प्रकार की रचनाओं के योग्य होता हुआ सज्जन-वचन के समान सुख-संगम है और अपभ्रंश संस्कृत और प्राकृत दोनों के शुद्ध-अशुद्ध पदों के समान तरंगों द्वारा रंगीली चालवाला, नए वर्षाकाल के मेघों के प्रपात से पूर द्वारा प्लावित गिरिनदी के समान सम और विषम होता हुआ प्रणय-कुपितप्रणयिनी के वार्तालाप के समान मनोहर होता है^२।

१—संस्कृतप्राकृतपभ्रंशभाषात्रयप्रतिबद्धप्रबन्धरचनानिपुणतरान्तःकरणः।

(इंडियन एंटीक्वेरी, भाग १०, पृष्ठ २८४)

२—आयणिणऊण य चित्तिं यणे—अरे कयलीए उण भासाए एयं उल्ल-
वियइ केणा वि किं पि ? हुं अरे ! सकुअं ताव ण होइ, जेण तं अणोयपय-समास-
णिवाउवसग्गविभत्ति-लिगपरिअप्पणाकुवियप्पसंगदुग्गमं दुज्जणहिययं पिव विसमं। इमं तु ण
एरिसं। ता किं पाययं होज ? हुं ! तं पि सो, जेण तं सयलकलाकलावमालाजलकल्लोल-
संकुलं लोयवुत्तंतमहोअहि महापुरिसमुहण्णुग्गयामयणीसंदबिंदुसंदोहं संघडिए एक्केकमव-

अपभ्रंश भाषा और साहित्य

७

१४ राजशेखर ने (८८०-९२० ई०) अपनी काव्यमीमांसा में संस्कृत को काव्यपुरुष का मुख, प्राकृत को बाहु, अपभ्रंश को जघन (अर्थात् मध्य भाग), पैशाच को पैर एवं मिश्र को उरस्थल कहा है^१। उनके अनुसार राजा की काव्य-सभा में संस्कृत-कवि उत्तर, प्राकृत-कवि पूर्व, अपभ्रंश-कवि पश्चिम एवं पैशाच-कवि दक्षिण में बैठें^२। उन्होंने समस्त मरु (मारवाड़), टक्क (पंजाब का एक भाग) और भादानक (संभवतः पंजाब के फैसल जिले का भद्रावती) देशों में अपभ्रंश के प्रयोग का स्पष्ट उल्लेख किया है,^३ और यह भी कहा है कि सुराष्ट्र और त्रवणादि देशों के लोग संस्कृत को भी अपभ्रंश के मिश्रणसहित बड़े सौष्ठव से पढ़ते हैं^४। यहाँ

एषापयणाणामुविरयणासहं सज्जनवयणं पिव सुहसंगयं । एयं पुण ण सुट्ठ । ता किं अवहंसं होहिह ? हुं ! तं पि णो, जेण तं सकयपायउभयसुद्धासुद्धपयसमतर्गरंगंतवागिरं
एवपाउसजलयपवाहपूरपव्वालियगिरिणइ सरिसं समविसमं पणयकुवियपियपणइणीसमु-
ल्लावसरिसं मणोहरं ।

१—अहो श्लाघनीयोऽसि ! शब्दार्थौ ते शरीरं संस्कृतं मुखं प्राकृतं बाहुः
जघनमपभ्रंशः पैशाचं पादौ उरो मिश्रम् । (काव्यमीमांसा, अध्याय ३)

२—मध्येसभं...राजासनम् । तस्य चोत्तरतः संस्कृताः कवयो निविशेरन् ।...
पूर्वेण प्राकृताः कवयः ।...पश्चिमेनापभ्रंशिनः कवयः ।...दक्षिणतो भूतभाषाकवयः ।

(वही, अध्याय १०)

३—सापभ्रंशप्रयोगाः सकलमरुभुवष्टकभादानकाश्च ।

(वही, अध्याय १०)

४—सुराष्ट्रत्रवणाद्या ये पठन्त्यर्पितसौष्ठवम् ।

अपभ्रंशवदंशानि ते संस्कृतवचांस्यपि ॥ (वही, अध्याय ७)

काव्यमीमांसा के संपादक पं० मधुसूदन मिश्र ने त्रवण देश को 'द्रावनकोर इति प्रसिद्धः' (बनारस-संस्करण १९३४, पृष्ठ १०८) बतलाया है, यह ठीक नहीं प्रतीत होता । काव्यमीमांसा के ही सत्रहवें अध्याय में देवसभा से पश्चिम की ओर जो पश्चात् देश बतलाया गया है उसी में देवसभ, सुराष्ट्र, दशेरक, त्रवण, भृगुकच्छ आदि देश गिनाए गए हैं । देवसभा से आधुनिक देवास का अभिप्राय जान पड़ता है ।

त्रवण से संभवतः त्रिगर्त का तात्पर्य है, जो पंजाब प्रदेश के जालंधर का प्राचीन नाम सिद्ध होता है^१। राजशेखर के सामयिक काव्य-नरेश को यदि हम कान्यकुब्ज में बैठाएँ तो उपर्युक्त भाषाओं की देशानुसार व्यवस्था ठीक बैठ जाती है।

७५ नवीं शताब्दी में रुद्रट ने अपने काव्यालंकार में अपभ्रंश को न केवल काव्य की छह भाषाओं में संमिलित किया है, किंतु वे यह भी स्पष्टतः कहते हैं^२ कि 'देश-भेद से अपभ्रंश के बहुत से भेद हैं।' रुद्रट के इस कथन पर टीका करते हुए नमिसाधु (सं० ११२५ वि०) प्राकृत में ही अपभ्रंश को संमिलित बताकर लिखते हैं^३ कि 'अन्य लेखकों ने अपभ्रंश भाषा के तीन भेद माने हैं—उपनागर, आभीर और ग्राम्य। इसी के निराकरणार्थ रुद्रट ने उसे 'भूरिभेद' कहा है, क्योंकि देश के विशेषतानुसार भाषा में भी विशेषता पाई जाती है, जिसके लक्षण लोकव्यवहार से ही जानने चाहिए।' यह तो सिद्ध करना कठिन है कि रुद्रट से पूर्व ही अपभ्रंश के उपर्युक्त तीन व्यवस्थित भेदों का शास्त्रकारों में उल्लेख होने लगा था और उसी के निराकरणार्थ रुद्रट ने अपभ्रंश को 'भूरिभेद' कहा है, किंतु नमिसाधु के उल्लेख से इतना सुस्पष्ट है कि उनके समय से पूर्व ही अपभ्रंश के तीन भेद माने जाने लगे थे। इन भेदों की स्वीकृति कब से प्रचलित हुई इसका अन्वेषण करने के लिये अब हम वैयाकरणों के पास चलेंगे।

(क्रमशः)

१—देखो नंदलाल डे कृत 'ज्याग्रफिकल डिक्शनरी' में 'त्रिगर्त'।

२—भाषाभेदनिमित्तः षोढा भेदोऽस्य संभवति।

प्राकृत-संस्कृत-मागध-पिशाच-भाषाश्च शौरसेनी च।

षष्ठोऽत्र भूरिभेदो देशविशेषादपभ्रंशः॥

(काव्यालंकार २, ११-१२)

३—प्राकृतमेवोपभ्रंशः। स चान्यैरुपनागराभीरग्राम्यावभेदेन त्रिघोक्तस्तन्निरा-
साथमुक्तं भूरिभेद इति। कुतो? देशविशेषात्। तस्य च लक्षणं लोकादेव सम्यगवसेयम्।

वीरगाथा-काल का जैन भाषा-साहित्य

श्री अग्रचंद नाहटा

हिंदी-साहित्य के इतिहास में हिंदी भाषा के प्राचीन रूप एवं साहित्य के संबंध में अभी तक जो कुछ कहा जाता है वह किन्हीं अंशों में अपूर्ण एवं भ्रमपूर्ण है, इस बात को मैं अपने पूर्व प्रकाशित लेखों द्वारा बतलाता रहा हूँ। वीरगाथा-काल के नाम से हिंदी के इतिहासों में जो काल अभिहित है उस काल का यह नामकरण कोई विशेष महत्त्व नहीं रखता; एवं उस काल की जो रचनाएँ बतलाई जाती हैं उनमें से किसी भी रचना में उस काल की भाषा के यथार्थ रूप का दर्शन नहीं होता, अपने लेखों में मैंने यह भी दर्साया है। इनके साथ ही इस समस्या को सुलभाने की एक सहायक कड़ी—तत्कालीन जैन साहित्य—का भी थोड़ा परिचय अपने 'वीरगाथा-

१—पृथ्वीराज रासो, वीसलदेव रासो ('राजस्थानी' में प्रकाशित), खुम्माण रासो ('ना० प्र० प०' में प्रकाशित) और वीरगाथा-कालीन रचनाओं पर विचार ('ना० प्र० प०' में प्रकाशित भाग ४७, अंक ३-४)।

२—मेरे नम्र मतानुसार अन्य दो कड़ियाँ ये हैं—१ सिद्धों एवं नाथ संप्रदाय का प्राचीन साहित्य, २ मुसलमान कवियों के प्रेम-काव्यादि। इनमें से प्रथम की उपयोगिता को तो सभी विद्वानों ने स्वीकार किया है। सिद्धों की वाणी प्रकाशित हुई है एवं हिंदी-साहित्य के इतिहासकार अब उनका उल्लेख करने लगे हैं। नाथों की वाणी में से 'गोरख-वाणी' हिंदी-साहित्य-संमेलन से प्रकाशित हुई है, पर प्राचीन प्रति न मिलने से भाषा सुरक्षित नहीं है तथा उसके गोरख के समय (११वीं १२वीं शताब्दी) की होने में पूरा संदेह है। द्वितीय प्रकार के साहित्य की अभी भली भाँति खोज नहीं हुई। अमीर खुसरो के अतिरिक्त मुसलमान कवियों की जितनी रचनाएँ मिली हैं वे वीरगाथा-काल के बाद की हैं। खुसरो की रचनाओं की भी प्राचीन प्रतियाँ अपेक्षित हैं। जैन रचनाओं में हिंदी अपभ्रंश रचनाओं की उपयोगिता भी कम नहीं है, अतः उनकी ओर भी मैंने ऊपर विद्वानों का ध्यान आकृष्ट किया है।

काल का जैन भाषा-साहित्य' शीर्षक लेख में प्रकाशित किया था। उस लेख के लिखने के पश्चात् मुझे साहित्यानुसंधान के सिलसिले में जैसलमेर की साहित्यिक यात्रा का भी सुअवसर प्राप्त हुआ और वहाँ के भांडारों के सूक्ष्म निरीक्षण द्वारा कतिपय अन्य जैन रचनाएँ भी हाथ लगीं जो वीरगाथा-काल के नाम से कहे जानेवाले काल की हैं, एवं जो अभी तक साहित्य-संसार को सर्वथा अज्ञात हैं। अतः इस निबंध में उनका एवं बीकानेर भांडारस्थ अन्य नवीन प्रतियों का परिचय प्रकाशित कर रहा हूँ। इनमें से अधिक रचनाओं की प्रेस-कापी हमने अपने संग्रह के लिये कर रखी है और सुयोग मिलते ही उन्हें प्रकाशित करने का विचार है। मेरे उपर्युक्त लेख-प्रकाशन के पश्चात् उन रचनाओं में से शालिभद्रसूरि रचित 'भरत बाहुबलि रास' (सं० १२४१) एवं 'बुद्धि रास' को मुनि जिनविजय ने 'भारतीय विद्या' के वर्ष २, अंक १ में प्रकाशित किया है। साहित्यान्वेषी विद्वान् उन्हें पढ़कर विशेष विचार कर सकते हैं।

अपभ्रंश भाषा का जैन साहित्य—हिंदी आदि लोकभाषाओं की जननी अपभ्रंश भाषा में जैन विद्वानों ने बहुत अधिक साहित्य-निर्माण किया है, पर अभी तक उसके प्रकाशन की तो कौन कहे^१ हमें उसकी पूरी जानकारी भी नहीं है। इस भाषा में श्वेतांबर संप्रदाय के जैनों की अपेक्षा दिगंबर संप्रदाय के जैनों का साहित्य बहुत विशाल है। पर उनके भांडारों का सूक्ष्म निरीक्षण अभी तक नहीं हो पाया है। अतः सैकड़ों अज्ञात रचनाओं का पता अभी नहीं चल सका है। श्वेतांबर संप्रदाय के जैन विद्वान् १३वीं १४वीं शताब्दी के पश्चात् अपभ्रंश में रचना करना छोड़कर तत्कालीन लोक-भाषा में रचना करने लगे। दिगंबर संप्रदाय के जैन विद्वानों ने १६वीं

१—'नागरीप्रचारिणी पत्रिका' वर्ष ४६, अंक २ में प्रकाशित।

२—पुष्पदंत रचित महापुराण, णायकुमारचरित और जसहरचरित, धनपाल रचित भविस्यत्तकहा, कनकामर रचित करकंडुचरित, सावयधम्म दोहा, पाहुड दोहा त्रिसङ्की महापुरुषचरित, अपभ्रंश काव्यत्रयी इतने ही प्रकाशित ग्रंथ ज्ञात हैं।

शताब्दी तक भी अपभ्रंश भाषा को अपनाए रखा^१। अतः अपभ्रंश एवं हिंदी के क्रमिक विकास एवं भाषाविज्ञान की दृष्टि से अध्ययन करने के लिये उनका वह साहित्य बहुत ही महत्त्वपूर्ण है। श्वेतांबर मुनियों का विहारस्थल प्रधानतया गुजरात एवं राजपूताना (विशेषतः मारवाड़) रहा है, अतः उन्होंने उन प्रांतों की भाषाओं में विशेष रचनाएँ कीं। दिगंबर जैनों का गुजराती^२ एवं राजस्थानी (दूढाड़ी) भाषा में साहित्य नगण्य-सा है और १७वीं शताब्दी से तो भाषा-साहित्य में हिंदी ही उनकी प्रधान भाषा हो गई। अतः दिगंबर जैन भाषा-साहित्य के अनुसंधान की ओर उस समाज के विद्वानों एवं साहित्यकारों का ध्यान आकृष्ट करता हूँ।

इस समय की कृतियों की प्रतियाँ—इस समय की जैन भाषा-कृतियाँ प्रायः लघुकाय हैं, अतः कतिपय रचनाओं को छोड़कर उनकी स्वतंत्र प्रतियाँ उपलब्ध न होकर प्रायः संग्रहात्मक प्रतियों (विविध कृतियों के संग्रह) में पाई जाती हैं। छोटी-छोटी रचनाओं का संग्रह होने से विद्वानों का ध्यान उस ओर बहुत कम जाता है, फलतः अब भी खोज करने पर ऐसी सैकड़ों कृतियों के मिलने की संभावना है। मेरे देखने में ऐसी संग्रह-प्रतियाँ ही आई हैं जिनमें सं० १४७० तक की सैकड़ों लोकभाषा की रचनाएँ विद्यमान हैं। इनमें से सबसे प्राचीन रचना सं० १३८४ की है जो जैसलमेर के 'ताड़पत्रीय भांडार' में है। यह प्रति खरतर जिनप्रमोधसूरि के शिष्य आनंदमूर्ति ने लिखी है। सं० १४३४ में जिनराजसूरिजी के उपदेश से लिखित अन्य प्रति जैसलमेर के मतिवर्य वृद्धिचंद्रजी के आश्रमस्थ 'पंचायती भांडार' में है^३। जैसलमेर के

१—अपभ्रंश भाषा के जैन साहित्य का कुछ परिचय जैन गुजर कवित्रो, भाग १६-३२, संख्या ३-४ में दिया गया है।

२—देखिए मेरा 'दिगंबर जैन गुजराती साहित्य' शीर्षक लेख जो 'जैन सिद्धांत-भास्कर', वर्ष ६, अंक १ में प्रकाशित है।

३—इन दोनों प्रतियों एवं सं० १४३० वाली प्रति को छोड़कर सभी प्रतियों में बीच-बीच के कई पत्र नहीं मिलते। उन पत्रों में कई ऐतिहासिक एवं भाषा की दृष्टि से महत्त्व की रचनाएँ थीं, वे अप्राप्य हो गईं एवं कई रचनाएँ नष्ट हो गईं।

भांडार में इसी प्रकार की एक अन्य संग्रह-प्रति के भी कुछ पत्र प्राप्त हुए हैं। इस प्रकार की तीन-चार प्रतियाँ हमारे संग्रह में हैं, जिनमें से एक सं० १४६३ खरतर कीर्तिरत्नसूरि के शिष्य शिवकुंजर लिखित महत्त्व की है। अन्य प्रतियों के मध्य पत्रादि ही मिले हैं, अर्थात् वे पूर्ण प्राप्त नहीं हैं। बीकानेर के बड़े ज्ञानभांडार के अंतर्गत अभयसिंह-भांडार में २३० पत्रों की एक प्रति सं० १४०० के लगभग की लिखी है एवं 'महिमा भक्तिभांडार' में वही सं० १४३० की लिखी है। सं० १४६० की लिखित एक विशिष्ट प्रति अजीमगंज के जैन भांडार में थी, पर वह अब गुम हो गई है। इसकी सूची बीकानेर भांडार में है, जिससे ज्ञात होता है कि इसमें निम्नोक्त रचनाएँ ऐतिहासिक एवं भाषा की दृष्टि से महत्त्व की थीं—

१ जिनपतिसूरि पंचाशिका, गा० ५५, जैसलमेर की सं० १३८४ की प्रति के अनुसार इसके रचयिता उ० जिनपाल थे।

२ जिनेश्वरसूरि सप्ततिका, गा० ७४।

३ जिनप्रबोधसूरि चतुःसप्ततिका, गा० ७४। (जैसलमेर की उक्त प्रति में भी यह रचना थी)।

४ जिनकुशलसूरि बहुतरी, गा० ७४।

५ जिनलब्धिसूरि बहुतरी। गा० ७४ (खरतरगच्छ पदावली में इनके संबंध में विशेष वर्णन नहीं मिलता, अतः ऐतिहासिक दृष्टि से इसका महत्त्व अत्यधिक है), सूप नमस्कार, गा० १३, स्तवक, गा० ८।

६ जिनेश्वरसूरि-चरित, गा० ३० (सं० १४३७ वाली प्रति में)।

७ चंद्रप्रभ-चरित, गा० ४० आदि अनेक अलभ्य ग्रंथ थे।

उपर्युक्त सभी प्रतियाँ खरतरगच्छ के विद्वानों की लिखी एवं उनके द्वारा लिखाई हुई हैं, अतः इसी प्रकार की अन्य गच्छवालों की संग्रह-प्रतियों एवं खरतरगच्छीय अन्य प्रतियों का नीमाण आदि के भांडारों में भी उपलब्ध होना संभव है, जिनकी प्राप्ति से इसी प्रकार की अन्य सैकड़ों नवीन रचनाओं का परिचय प्राप्त होने की संभावना है।

पतत्कालीन रचनाओं में प्रयुक्त छंद—इस समय की रचनाओं में दोहा, छप्पय, चौपाई, वस्तु, घत्ता, घात, ठवणि, भास (संभव है घत्ता,

ठवण, भास पहले छंद विशेष रहे हों फिर साधारण रूप में प्रयुक्त होने लगे हों) आदि छंद ही व्यवहृत देखे जाते हैं । कई छंद ऐसे भी हैं जिनका प्रसार इस समय के पश्चात् नहीं रहा ।

एतत्कालीन रचनाओं के प्रकार—इस समय की जैन रचनाओं को हम चार भागों में विभक्त कर सकते हैं—

१ स्तुतिपरक—जिनमें जैन तीर्थंकरों और धर्माचार्यों की स्तुति ही प्रधान है; जैसे—नवकारफलवर्णन, जिनदत्तसूरिस्तुति, मुनिचंद्रसूरिस्तुति, महावीर-बोली, आदिनाथकलश, शांतिनाथ रास, नेमि रास, वीर जन्माभिषेक आदि ।

२ ऐतिहासिक—जिनमें जैन धर्माचार्यों, तीर्थों एवं श्रावकों का इतिवृत्त समाविष्ट है । उदाहरणार्थ—जिनेश्वरसूरिसंजम रास, जिनकुशलसूरिपट्टाभिषेक रास, आवू रास, रेवंतगिरि रास, सयरा रास, चैत्यपरिपाटी आदि ।

३ आख्यानक—जिनमें जैन महापुरुषों की जीवनी ही प्रधान है । यथा—भूतेश्वर बाहुबलि रास, सुभद्रा रास, स्थूलिभद्र रास, चंदनबाला रास, शालिभद्र रास, पंचपांडव फाग, जंबूस्वामी, मयलरेह रास आदि ।

४ जैन सिद्धांत-प्रतिपादक या धर्मनीति-विषयक—बुद्धि रास, जीवदया रास, उपदेशमाला कथानक, १२ व्रत रास, सप्तक्षेत्र रास, संपक्खया चौपाई श्रावकविधि रास, धर्मचर्चरी, भावना संधि, मातृका दोहादि ।

एतत्कालीन रचनाओं के विभिन्न नामकरण—इन रचनाओं के विभिन्न नाम पाए जाते हैं—गीत, धवल, बोली, कलश, विवाहलु, रास, चतुष्पदिका, उल्लाह, रेलुआ, गुरावली, चर्चरी, संधि, घोर, फागु, चैत्य-परिपाटी आदि ।

इन रचनाओं में से अधिकांश रचनाएँ कवित्वपूर्ण हैं । कई रचनाएँ तो इतनी सरस एवं भाववाही हैं कि उनके पढ़ने से आत्मा आनंदमग्न हो जाती है और उन्हें छोड़ने को जी नहीं चाहता ।

पूर्व लेख में सोलह कवियों की कृतियों का परिचय दिया गया था । इस लेख में जिन कवियों की रचनाओं का परिचय दिया जा रहा है उनमें से आसिगु, जिनेश्वरसूरि तथा सोममूर्ति ये तीन कवि पूर्वपरिचित हैं, शेष का पता अब लगा है ।

१२वीं शताब्दी

१ अज्ञात—जिनदत्तसूरि-गुणवर्णन, छप्पय १६, अपूर्ण, (सं० ११६६ से सं० १२११ के मध्य में) ।

आदि—जोअमाणु सिरि वद्धमाणु मण माण विवज्जउ ।
 सिद्धिपुरं घिनि वद्धमाणु भयपंजरु भंजिउ ।
 लोय लोय पयासिक्क मुरु भुयण दिवायरु ।
 सो जिणिंदु नय अमर विंदु वंदिणि करुणायरु ।
 संथुणहिं वीर जुग पवर गुरु गुरु भावहं संठिक्क मणु ।
 जिण सासण गयणं गण तरणि, सिवपह गमण महासमणु । १ ।
 [जैसलमेर भांडार, ताड़पत्रीय प्रति नं० १५०]

१३वीं शताब्दी

२ वंजसेनसूरि—भरहेसर बाहुबलि घोर, गा० ४५ (सं० १२२५ के लगभग) ।

आदि—पहिलउं रिसह नमेवि भवियहुं निसणहु
 सेलु घरेवि बहूबलि केरउ विजउ । १ ।
 सयलह पुत्तहं राणिव देवि भरहेसर निय
 पाटि ठयेवि रिसहेसरि संजमि थियउ । २ ।

अत—अवरुय करिसउ माणुए वयरसेणसूरि वज्जरए
 भावण तिय भावेउ जिव भावी भरहेसरिहिं तउ
 केवल परवेहुए राज करंता तेण जिव । ४५ ।

३ आसिगु—चंदनबाला रास, गा० ५३ (सं० १२५७ के लगभग)

आदि—जिण अभिनवि सरसइ भणए, पुहविहि भरह खेत्रि जं वीतं ।
 वीर जिणंदह पारणए निसुणउ चंदनबाला चरित्तु । १ ।
 अंत—एह रासु पुण वृद्धिहि जंति भाविहि भगतिहिं जिण हरि दिति ।
 पढइ पढावइ जे सुणइ तह सवि दुक्खइं खइयह जंति ।
 जालउर नउरिं आसुणु भणइ, जम्मिजम्मिन्त सउ सरसत्ति । ५३ ।

१—संभवतः शालिभद्रसूरि (भरत बाहुबलि रास, सं० १२४१ के रचयिता) के गुरु होंगे ।

२—इनके जीवदया रास (सं० १२५७) का परिचय मेरे पूर्व लेख में प्रकाशित है ।

- ४ सुमति गणि—नेमिनाथ रास, गा० ५७ । (सं० १२६० के लगभग
 आदि—पणमवि सरसइ देवी सुय (र) यण विभूसिय
 पभणिसु नेमि सुरासो जण निसुणउ भूसिय । १ ।
 अत्थि पसिद्धु नयरि सोरियपुरु, जं वन्नेवि न सक्कइ सुरगुरु ।
 जहिं पंडुर रेहइ जिणमंदिर, नावइ हिमगिरि कूड समुद्धर । २ ।

X X X X

अंत—नेमि जिणुवि भवियणु पडिबोहिवि, सुरु जम्मु महिमंडलि सोहिवि ।
 आसा उट्ठंमि सुद्धि मुणीसरु, संपत्तउ सिद्धिहि परमेसरु । ५६ ।
 सिरि जिणवइ गुरु सीसिहिं र(ह)उ मणहर रासु ।
 नेमि कुमारह रहउ, गणि सुमइणि रासु । ५७ ।

- ५ जयदेव मुनि—भावना संधि, गा० ६२ ।
 आदि—पणमवि गुणसायर भुवणदिवायर जिण चउवीसवि इक्कमणि
 अप्पं पडिबोहइ मोह निरोहइ कोइ भुव्व भावण वसिण । १ ।
 अंत—निम्मल गुण भूरिहिं सिवद्धिसूरिहिं पढय सीस जयदेव मुणि
 किय भावण संधी भाव सुयंधी निसुणउ अन्तवि धरउ मणि । ६२ ।

- ६ रुद्रपल्लीय अभयदेवसूरि शिष्य पृथ्वीचंद्र—मातृका दोहा ५८

आदि—अप्पइ अप्पउ वूज्झि करि जो परमप्पइ लीणु
 सुज्झि देव अम्हइ सरणु भवसायरपारीणु । १ ।
 माइ अक्खर धुरि धरी विवर दुहय छंदेण
 रसविलास आरंभियउ सुकवि पुहविचंदेण । २ ।

१४वीं शताब्दी

- ७ राजतिलक—शालिभद्र मुनिवर रासु, गा० ३५ ।
 आदि—थंभणपुर पहु पासनाह पणमेविणु भत्तिण ।
 सयल समीहिय सिद्धि सिद्धि सिज्झइ जसु सत्तिण ।
 हंउं पभणिसु सिरि सालिभद्र मुणि तिलयइ रासु ।
 भवियहु निसुणहु जेण तुम्ह हुइ सिवपुर वासु ॥

१—गणधरसार्ङ्गशतक बृहद्भूति (सं० १२६५) के रचयिता ।

अंत—सेणिय बोहिय भहा नियघरि पत्ता सवत्थसिद्धि ते मुणिवर
राजतिलक गणि संथुणइ ।

८ वीरप्रभ—चन्द्रप्रभकलश, गा० १७

आदि—अत्थि इह भरह वर नयरि चंदाणणा ।
जत्थ रेहंति नर नारि चंदाणणा ।
करइ तहिं रज्जु महसेण पुहवी सरो ।
चंग चउरंग बल कलिउ नय ईसरो ।

अंत—इय वीरप्पह मुणिणा रहउ चंदप्पहस्स देवस्स ।
जम्माभिसेय महिमा दिसउ सुहं सयल संघस्स ॥

९ सोममूर्ति—जिनप्रबोधसूरि चच्चरी, गा० १६ ।

आदि—विजयउ विजयउ कोड़ि जुग जिणपबोहसूरि राउ ।
विप्परंत वर सुरगण रयणालंकिय काउ । १ ।
अंत—जिणप्रबोधसूरि गुरुतणिय जे चाचरि पभणंति ।
सोममूर्ति गणि इम भणइ पुण लच्छित्ति लहंति । १६ ।

१० सोमप्रभ—शत्रुंजय चैत्यपरिपाटी, गा० २६ ।

आदि—सामिय रिसह पसाउ करि जिम सत्तुंजि चडेवि,
चैत्तपवाड़िहि सविनयउं तीरथ भावि धरेवि । १ ।
अंत—एहिति चैत्तपवाड़ि नर पढइ गुणइ विसुणंति,
श्री सत्तुंजय जत्त फल ते निच्चइ पावंति । २६ ।

११ जिनेश्वरसूरि—महावीर जन्माभिषेक, गा० १४ ।

आदि—सिद्धत्थ महा नर रायवंस सर रायहंस मुणि रायहंस ।
तैलुक्क नाह जुग दीह वाह जय चरम जिणेसर वीर नाह । १ ।

१२ समधर—नेमिनाथ फागु, गा० १४ ।

आदि—सरसति सामिणि पणमवि गुरु नमवि अंबिक हियइ धरेवि ।
फागु छंदु समधरु भणइ नेमि चरिउ निसुणेवि ।

१—इनके द्वारा रचित महावीर काव्याष्टक आदि भी उपलब्ध हैं ।

२—इनके द्वारा रचित महावीर बोलिका, गा० ८, वासुपूज बोलि आदि कई कृतियाँ भी उपलब्ध हैं ।

अरे द्वारवती यादव मिलिय पुहतलु मास वसंतु ।

अरे आफलि रलियहि अम्हि खेलिसउ गायसु राजुल कंतु ॥

१३ लखमसीहु श्रावक—जिनचंद्रसूरि वर्णना रास, गा० ४७ ।

आदि—पास जिणेसर वीतराउ पणमेविण भत्ति,

कर जोड़िवि सुयदेवि नमिवि कारउ विन्नति ।

चरिउ रहसु मुणिरायहंसु पहु जिणचंदसूरि,

नचहु भवियउ भावसारु गय कलिमल दूरि । १ ।

अंत—जुगपहाणु पहु जिणचंदसूरि पयठउ निय पयाव जसपूरि ।

लखमसीहु वन्नवइ अवधारि अम्ह हिय कुगाइ गमण निवारि ॥

१४ हेमभूषण—जिणचंदसूरि चञ्चरी, गा० २५ ।

आदि—सुरतरु पणमवि वीर जिणु कंचण वणण सरीरो,

पय पंकय पणमंतयह दुगय दुह दव नीरो ।

अंत—जुगवर सिरिजिणचंदसूरि जे चाचरि पभणंते

हेमभूषण गणि इव भणइ मण वंछिउ ति लहंते ।

१५ फेरु—गुरावली, गा० २८ (सं० १३७६ के पूर्व) ।

आदि—सयल सुरासुर वंदिय पाय, वीर नाहु पणमवि जय ताय ।

समरेविण सिरि सरसइ देवी, जुगवर चरिउ भणिसु संसेवि । १ ।

अंत—संघसहित फेरु इम भणइ, इत्तिय जुग पहाण जो थुणइ ।

पढ़इ गुणइ नियमणि सुमरेइ, सो सिवपुरि वर रज्जु करेइ ।

१६ मोदमंदिर—चतुर्विंशति जिन चतुष्पदिका, गा० २७ ।

आदि—माइ पियर लंछाण नयर तणु पमाण वर वन्न भिहाण ।

सत्त ठाण संजुत्त जिण ।

चउवीसवि घण गुण निहाण अणुदिण समरहु भविय जिण ॥

अंत—पढइ गुणइ जो सुणइ विचारु, सो नर पावइ मोख दुवारु ।

सासण देवि हरउ दुह दूरि, पूरउ संघ मणोरह पूरि । १७ ।

१७ राजशेखरसूरि—नेमिनाथ फागु, गा० ४७ (सं० १४०० के आसपास) ।

आदि—सिद्धि जेहि सयवर वरियति तित्थयर नमेवि,

फागु छंडु पहु नेमिजिण, गुण गाबिसु संखेवि ।

अंत—राजुलदेव सउं सिद्धि गयउ सो देव थुणिजइ,
मल्हारहि राइ सेहरसूरि किउ फाग रमिजइ । ४५ ।

१८ राजवल्लभ—थूलभद्र फागु, गा० २७ ।

आदि—पणमिय पास जिणंद पय अणुसर समरेवि ।

थूलभद्र मुणिवर भणिसु फागुबंधि गुण केवि ।

अंत—नंदउ सो सिरिथूलभद्र जो जुगह पहाणो ।

मलियउ जिणि जग मल्ल सल्ल रयवल्लह माणो ।

चैत्र मासि बहु हरिसि रंगि इह मुणि गाएवउ,

खेला नियमणि उलटहि तसु फाग रमेवउ । २७ ।

१९ अज्ञात—भरतेश्वर चक्रवर्ती फाग, गा० २० ।

आदि—वंदवि नामि नरिंद सुय रिसहेसर जिण चंदो ।

गाइसु मास वसंत हुउ भरहेसर नर विंदो । १ ।

अंत—जय जयकार करंति देव देवी जिणसहिया ।

महि मंडलि भरहेस कित्ति केवइ महसहिया ।

देव सुमंगल पुत्त फागु गावहु भो भविया,

जिम तुमहिं पामउ ऋद्धि वृद्धि मंगल संकलिया । २० ।

२० अज्ञात—पांचपांडव फाग, गा० २४ ।

आदि—पंडु नरेसर निय कुमरु परणाविय साणंदु,

हथिणाउर पुरि आवियउ साथि करिउ गोविंदु ।

अंत—राज करंतउ धरह जगत्र रिखि तीरथ वंदउ,

जसु वित्थारहु ऋद्धि वृद्धि पावउ चिर नंदउ । २४ ।

२१ अज्ञात—जंबू स्वामी सत्थवस्तु, गा० २१ ।

आदि—जंबू दीवह भरह खित्तमि रायगिहु

वर नयरु उसभदत्त तहिं सिद्धि निवसइ,

तसु गेहिणि धारणिय तासु पुत्त जंबू भणिजइ ।

उवरोहिणि सयणह तणइ कुमर मनाविउ जाव,

अट्ट कन्न वरक्ख धर वप्पु वरावइ ताव । १ ।

२२ अज्ञात—धर्मचक्षरी, गा० २० ।

आदि—समरेविणु सिरि वीर जिणु पभणिणु सावय धम्म ।

जो आराहइ एक्क मणि सो नर पावइ सम्मु । १ ।

२३ अज्ञात—मयणरेहा रास, गा० ३४ से अधिक, आदि त्रुटित ।

आदि—सयलहं रयणह वयर रयणु जिव मूल न जाण,

तिम जिण सासणिसील रयणु कवि कहण नमावण ।

वीर जिणेसर जामतित्थु अणुसरु पयासइ,

ता चिरु नंदउ एहु चरिउ अणु मयणु महासइ । ७ ।

२४ अज्ञात—नेमिनाथ बारहमासा ।

आदि—कासमीर मुख मंडण देवी, वाएसरि पल्हणु पणमेवि ।

पडभावतिय चक्केसरि नमिउ, अंबिक देवी हउं वीनविउ ॥

चरिउ पयासउ नेमिजिण करउ कवितु गुण धम्म निवासो ।

जिम राइमइ विओग भउ बारहमास पयासउ रासो । १ ।

२५ अज्ञात—सुभद्रासती चतुष्पदिका, गा० ४२ ।

आदि—जं फलु होउ गया गिरनारे, जं फलु दीना सोन्त भारे ।

फल लखि नव कारहिं गुणहिं, तं फलु सुभदा चरितहिं सुणिहिं । १ ।

अंत—पढइ गुणइ जे जिणहरि देहि, ते तिच्छइ संसारु तरेइ ।

सुभद्रा सती चरितु संभलहिं, सिद्धि सुक्खु लीलइ ते लहइ । ४२ ।

२६ अज्ञात—नवकार रास, गा० २१ ।

आदि—पणमवि रिसहजिणंददेव तिय लोय दिवायरु

वीरु नमउ गंभीरु धीरु सासय सुह सायरु

अजर अमर वर नाणवंत तिहुअणचूडामणि

सासय सुह संपत्त सिद्ध वंदउ ते तियमणि । १ ।

अंत—पभणिउ पहु नवकारह रासु, सयल मंगल गुणगण आवासु ।

जो नरु अणुदिणु नियमणि भायइ, सिवपुर लच्छि पवर सुह पावइ । २१ ।

२७ अज्ञात—अंबिकादेविपूर्वभववर्णन तलहरा, गा० ३०, आदि त्रुटित ।

अंत—नेमि जिणेसर चरण अंभोय महुरि अंबिक देवि तुहुं

संघह सानिध सुहं करिभो पदेहि मणच्छिय उदय ऋद्धि ।

२८ अज्ञात—जिनचंदसूरि रास, गा० २५, मध्य त्रुटित ।

आदि—अरे पणमवि सामिउ संति जु सिव वाउलि उरि हारु
 अरे अणहिलवाड़ा मंडणउ सव्वह तिहुअण सारु
 अरे जिणपवोहसूरि पाटिहि सिरि संजमु सिरि कंतु
 अरे गाइवउ जिणचंदसूरि गुरु कामल देवि कउ पूतु । १ ।
 अंत—सिरि जिणचंदसूरि फागिहिं गायहिं जे अति भावि ।
 ते वाउल अरु पुरुसला विलसहिं सिव सुह सावि । २५ ।

२६ गद्य—सं० १४०० के लगभग लिखित तत्त्वविचारप्रकरण से—

श्रावक किसा होंहिं—श्रवतीति श्रावक—ब्रतिया पासि धर्मु सांभलहि,
 दानु अनिवरतु श्रवहि, ए श्रावक भणियहि, ताहं तणउ धमुं कैते भेदे-बार भेदे
 पांच अणुव्रत तिन्नि गुणव्रत चारि शिद्धाव्रत । पांच अणुव्रत किसा भणियहि-
 बाहर जीव निरपराध मनि वचनि नहणउ । जीव किसा होंहिं-चितु चेतना
 संज्ञा जाहं हुइति जीव भणियहिं, ते पुणु अनेक विधि हुंहिं ।

इनके अतिरिक्त अन्य पचासों रचनाएँ हमारे संग्रह में विद्यमान हैं ।
 लेख के विस्तार-भय से उनका परिचय नहीं दिया गया है । नागरीप्रचारिणी
 सभा आदि साहित्यिक संस्थाओं का कर्तव्य है कि वे इन सब को अति शीघ्र
 प्रकाशित करें ।



मध्यदेश का भाषा-विकास

डा० बाबूराम सक्सेना एम्० ए०, डी० लिट्०

दो सहस्र वर्ष पूर्व की स्थिति

वैदिक—भारतवर्ष की भाषा का जो पुराना से पुराना लेख मिलता है वह है ऋग्वेद। संभव है मोहन जदाड़ो और हड़प्पा की खुदाई से मिली हुई सामग्री में बिखरे हुए लेख आदि की भाषा, समय की दृष्टि से, ऋग्वेद की भाषा से पुरानी साबित हो, पर जब तक निश्चित रूप से उसका ज्ञान न हो सके तब तक ऋग्वेद को ही इस देश का प्राचीनतम लेख मानना होगा।

ऋग्वेदसंहिता के सूक्ष्म अध्ययन से मालूम होता है कि उसके सूक्तों में जहाँ तहाँ बोली-भेद है। प्रथम मंडल और दशम मंडल के सूक्तों की भाषा अपेक्षाकृत कुछ वाद की है। ब्राह्मण ग्रंथों, प्राचीन उपनिषदों और सूत्र ग्रंथों की भाषा क्रम से विकसित हुई जान पड़ती है। पाणिनि के समय तक वैदिक वाङ्मय की भाषा (छंदस्) और साधारण पढ़े-लिखे जन की भाषा (भाषा) में काफी अंतर पड़ गया था। बुद्ध भगवान् के समय तक उत्तर भारत में उदीच्य, प्राच्य और मध्यदेशी ये तीन भाग, भाषा के विभेदों के कारण, बन गए थे।

संस्कृत—साहित्यिक भाषा में बोली-विभेद मिटाने का सबसे सफल उद्योग पाणिनि का साबित हुआ। इन्होंने उदीच्य भाग की भाषा को प्राधान्य दिया। इनके समय में संस्कृत शिष्ट समाज के परस्पर विचार-विनिमय की भाषा थी और यह काम पाणिनि के समय के बाद भी कई शक्तियों तक करती रही। साथ ही साथ मध्यदेश और प्राच्यदेश (मगध और काशी) की बोलियाँ विकसित होती रहीं। संसार की कोई भी भाषा चाहे कितनी भी अच्छी हो, वह किसी देश या जनता के भावों को व्यक्त करने का सर्वकालीन माध्यम नहीं रह सकती। साहित्य में प्रयोग में आने

पर उस भाषा का विकास रुक जाता है—क्योंकि उत्तरकालीन साहित्यकार अपने पूर्ववर्ती साहित्य-निर्माताओं की भाषा से प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष रूप से प्रभावित होते-रहते हैं। दूसरी ओर लोक-भाषा अबाध गति से विकसित होती रहती है। यही सामान्य नियम इस बात का कारण था कि उत्तर भारत की साहित्यिक भाषा के मुकाबिले में, कालांतर में, अन्य भाषाएँ, जो पहले केवल बोलियों के रूप में प्रचलित थीं, खड़ी हुई। प्राच्य भाग में महावीर स्वामी और गौतम बुद्ध ने संस्कृत का सहारा न लेकर तत्कालीन लोक-भाषाओं को आर्य-धर्म के प्रचार के निमित्त ग्रहण किया। मध्यदेश में जो बोलियाँ उस समय बोली जाती थीं वे (उदीच्य) संस्कृत के काफी निकट रही होंगी, इस कारण यहाँ संस्कृत का प्रभाव अधिक दिन तक टिक सका। परंतु प्रियदर्शी महाराज अशोक के समय में (आज से लगभग २२०० वर्ष पूर्व) उदीच्य और मध्यदेशी भागों में भी प्राकृतें बोली जाती थीं।

पालि—मध्यदेशी भाषा का प्रथम स्वरूप हमें हीनयान बौद्ध मत के धर्म-ग्रंथों की भाषा पालि में मिलता है। निश्चय ही यह भाषा मध्यदेशी है। यह संभावना प्रायः विद्वत्संमत है कि मूल बौद्ध ग्रंथों का इसमें किसी समय (शायद विक्रम से २०० वर्ष पूर्व) अनुवाद हुआ। इस भाषा को सिंहल में मागधी नाम दिया गया है, पर गठन की दृष्टि से यह मगध प्रांत की नहीं ठहरती। सिंहल देश में प्रचलित संप्रदाय के अनुसार वहाँ बौद्ध धर्म के ग्रंथ महाराज अशोक के सुपुत्र महेंद्र ले गए। अशोक मगध के राजा थे, शायद इसीलिए सिंहलवाले इस भाषा को मागधी समझ बैठे। प्राच्य भाषा के बौद्ध ग्रंथों का मध्यदेश की पालि भाषा में अनुवाद होना ही इस बात का सबूत है कि यह मध्यदेशी भाषा संस्कृत के समान ही आदर्श (स्टैंडर्ड) भाषा हो चुकी थी। इसमें बौद्ध धर्म के मूल ग्रंथ, टीकाएँ तथा कथा, काव्य, कोश, व्याकरण आदि हैं। वर्तमान समय में सिंहल, ब्रह्मदेश, थाईदेश आदि स्थानों में उसे वही गौरव प्राप्त है जो भारतवर्ष में संस्कृत को। पालि में 'धम्मपद', 'जातक' आदि अमूल्य ग्रंथ लिखे गए। इस भाषा के सूक्ष्म निरीक्षण से पता चलता है कि इसमें जहाँ तहाँ

बोली-भेद के उदाहरण हैं। एक ही शब्द के अनेक रूप अनेक स्थलों पर मिलते हैं। तब भी मूल में एक ही भाषा है। स् का सर्वत्र अस्तित्व और श् का अभाव तथा र् का अस्तित्व और ल् से भेद इत्यादि लक्षण इस बात को पूर्ण रूप से प्रमाणित करते हैं कि यह मध्यदेश की भाषा है।

शौरसेनी—आज से दो हजार साल पहले मध्यदेश में एक ओर संस्कृत एक परिमित क्षेत्र में जनता के मनोभावों को व्यक्त करने का उत्कृष्ट साधन बनी हुई थी और दूसरी ओर शौरसेनी प्राकृत भी चल रही थी। संस्कृत के नाटकों में स्त्री-जन तथा मध्यम वर्ग के पुरुषों की भाषा यही है। इससे जहाँ यह सिद्ध होता है कि इस भारत देश में नाटक का सर्वप्रथम विकास शौरसेनी प्रांत में हुआ वहाँ यह भी मालूम होता है कि अन्य प्राकृतों की अपेक्षा शौरसेनी का प्रसार अधिक विस्तृत क्षेत्र में था। अनुमान है कि यह संस्कृत के समान ही आदर्श (स्टैंडर्ड) भाषा थी। इसमें विक्रमी संवत् की पहली शती में लिखे अश्वघोषकृत 'सारिपुत्तपकरण' आदि तीन रूपक पाए गए हैं। इनकी भाषा पालि और उत्तरकालीन (संस्कृत नाटकों की) शौरसेनी के बीच की है। शौरसेनी का मुख्य लक्षण तवर्ग ध्वनियों के विकास में पाया जाता है। दो स्वरों के बीच में सं०-त्,-थ्- का शौ० में -द्,-ध्- हो जाता है और दो स्वरों के बीच की -द्,-ध्- ध्वनियों में कोई परिवर्तन नहीं होता; जैसे-गच्छति > गच्छदि, यथा > जघा, जलदः > जलदो, क्रोधः > क्रोधो। किंतु यह लक्षण समस्त उत्तर भारत में (प्राच्य भाग में भी) पाया जाता है, प्राच्य के अन्य भेदक लक्षण, जैसे-अकारांत संज्ञा के एकवचन प्रथमा विभक्ति में -ए (शौ० देवो, मागधी देवे) और र् के स्थान में ल् (शौ० राजा, मा० लाजा) आदि हैं।

पालि की तरह शौरसेनी भी भारतवर्ष की साहित्यिक भाषा कई शतियों तक रही। अनुमान है कि महाराष्ट्री जब कविता और गीतिकाव्य का माध्यम बनी तब भी शौरसेनी ही सारे देश में अंतःप्रांतीय व्यवहार का माध्यम थी। संस्कृत भी साथ-साथ पंडितवर्ग में चल रही थी। इसी समय जनता की भी प्रादेशिक बोलियाँ अपने-अपने क्षेत्र में अबाध गति से विकसित हो रही थीं।

विक्रमी संवत् के प्रथम सहस्र वर्षों की स्थिति

मोटे तौर से शौरसेनी आदि प्राकृतों का काल वि० सं० के ५०० वर्ष तक माना जाता है। इनमें व्याकरण की जटिलता काफी कम हो गई थी और संज्ञा तथा क्रिया का रूपबाहुल्य कम होते होते प्रायः आवे तक आ गया था। ध्वनियों में भी काफी भेद पड़ गया था। संयुक्त व्यंजनों में से केवल अपने अपने अनुनासिक के बाद उस उस वर्ग का स्पर्श वर्ण, अनुनासिक या ल् के बाद ह् और व्यंजन की दीर्घ मात्रा (-स्स्-, -त्त्-, -प्प्-आदि) बाकी बचे थे। दो स्वरों के बीच का ह्रस्व स्पर्श वर्ण प्रायः समाप्त हो गया था। स्वरों में ऋ, लृ, ऐ, औ विक्रम संवत् के आरंभ के कई शती पहले ही अपना अस्तित्व खो चुके थे।

अपभ्रंश—विक्रम की प्रथम सहस्राब्दी के उत्तरार्ध में अपभ्रंशों का दौरदौरा रहा। ये प्रादेशिक प्राकृतों के ही विकसित रूप थे। काव्य में इनके प्रयोग का पहला उल्लेख आचार्य दंडी के ग्रंथ 'काव्यादर्श' (सातवीं शती) में मिलता है। साहित्य के लिये इनका प्रयोग पंद्रहवीं-सोलहवीं शती तक बराबर चलता रहा। जैन धर्म के आश्रय या संरक्षण में लिखा हुआ चरित-साहित्य अपभ्रंश की विशेष विभूति है। विद्यापति ठक्कुर ने अपनी 'कीर्तिलता' अपभ्रंश (अवहट्ट) में ही लिखी है। बिहार के कुछ संतों के ग्रंथ 'बौद्धगान ओ दोहा' की भाषा भी अपभ्रंश का ही एक रूप है।

पूर्वार्ध की अपेक्षा अपभ्रंश-काल में ध्वनियों और व्याकरण का और भी ज्यादा विकास पाया जाता है। संयुक्त व्यंजनों के समीकरण के कारण व्यंजनों का जो द्वित्व (दीर्घत्व) कई शतियों में विकसित हुआ था वह अब एकत्व (ह्रस्वत्व) की ओर चलने लगा (-स्स्->-स्-, -त्त्->-त्-, -प्प्->-प्-) और प्रतिकार-स्वरूप उसके पहले का स्वर दीर्घ हो गया (सत्त>सात, सप्प>साँप)। संज्ञा और क्रिया के रूपों की जटिलता और भी कम हो गई। प्रथमा और द्वितीया विभक्तियों के रूपों में निकटता आ गई और इसी तरह षष्ठी और सप्तमी में भी प्रतिकार-स्वरूप परसर्गों का प्रयोग जारी हुआ। भूतकाल के लिये निष्ठा का आश्रय सर्वांश में लिया जाने लगा।

शौरसेन अपभ्रंश—हेमचंद्रसूरि, मार्कण्डेय आदि वैयाकरणों ने नागर, उपनागर, ब्राह्म आदि अपभ्रंश के बहुत से भेद बताए हैं। इससे अनुमान होता है कि शौरसेन अपभ्रंश के अलावा अन्य प्रदेशों के अपभ्रंशों का भी साहित्य के माध्यम के रूप में प्रयोग हुआ होगा। पर अपभ्रंश की जितनी कृतियाँ अभी तक मिली हैं उनमें प्रधानता शौरसेन अपभ्रंश की ही जान पड़ती है। ऐसा मालूम होता है कि यही भारतवर्ष भर में—क्या मध्यदेश, क्या मगध और मिथिला और क्या गुजरात और महाराष्ट्र सब कहीं—साहित्य का माध्यम बना हुआ था और जनता के परस्पर अंतःप्रांतीय व्यवहार का साधन था।

विक्रमी संवत् की द्वितीय सहस्राब्दी की स्थिति

वर्तमान भाषाएँ—साधारण रीति से यह कह सकते हैं कि भारतीय आर्यभाषाओं का वर्तमान युग विक्रमी संवत् १००० से आरंभ होता है। इस समय तक संस्कृत, शौरसेनी आदि प्राकृतों और शौरसेन आदि अपभ्रंश साहित्य के माध्यम बन गए थे और सभी प्रयोग में आ रहे थे। पर जनता की भाषा और उसके निकटतम साहित्यिक रूप अपभ्रंश के बीच भी कालगति से काफी भेद पड़ गया था। इसी कारण अपभ्रंशों के विकसित रूपों (वर्तमान भाषाओं) को साहित्यिक प्रयोग में भी प्रोत्साहन मिला। वर्तमान युग में ध्वनियाँ प्रायः वे ही हैं जो मध्य युग में थीं। प्राचीन युग के उधार लिए शब्दों में प्राचीन युग की विशेष ध्वनियाँ ऋ, ष् वर्तमान युग में लिखी अवश्य जाती हैं पर इनका उच्चारण शुद्ध नहीं होता। ऋ का उच्चारण उत्तर भारत में रि (रिशि) और दक्खिन में रु (रुशि) होता है, और ष् का श्। इसी प्रकार ज संयुक्ताक्षर का उच्चारण प्रदेश-भेद से ग्यँ, ञ होता है, यद्यपि कुछ सुधारक ज्यँ भी बोलते हैं। पूर्वी प्रांतों में ब, व दोनों ब और ज, य दोनों ज सुनाई पड़ते हैं। संस्कृत के संयुक्ताक्षर शिष्ट समाज के उच्चारण में ज्यादातर ठीक-ठीक उतर जाते हैं। इस युग में भारतीय भाषाओं में अरबी-फारसी से भी शब्द काफी तादाद में आ गए हैं और इनमें आई हुई विदेशी ध्वनियाँ (क़, ख़, ग़, ज़, फ़ आदि) के स्थान पर प्रायः सब प्रदेशों

में देशी निकटतम ध्वनियों (क, ख, ग, ज, फ आदि) को लाकर उच्चारण किया जाता है, केवल पश्चिमोत्तर प्रदेश, सिंध, पंजाब और संयुक्त प्रांत के पच्छिमी भाग में इन ध्वनियों को ठीक-ठीक बोलने की कोशिश शिष्ट समाज द्वारा की जाती है। पर देश में राष्ट्रीय भावना की उत्तरोत्तर वृद्धि के कारण यह प्रवृत्ति निर्बल पड़ती जा रही है।

प्राचीन युग की रूप-भेद की जटिलता, जो प्राकृत और अपभ्रंश-काल में बहुत कम हो गई थी, वर्तमान युग में समाप्त-सी हो गई और गठन का विकास शिष्ट अवस्था से अयोगावस्था में आ गया। भारतीय आर्यभाषाओं में परस्पर भेद की मात्रा वास्तव में उतनी नहीं है जितनी लिपि-भेद के कारण दिखाई पड़ती है।

वर्तमान स्थिति

वर्तमान काल में हमारे देश में आर्य, द्राविड़, तिब्बत-चीनी और मुंडा—इन चार परिवारों की भाषाएँ बोली जाती हैं और इनके बोलने वालों की जनसंख्या क्रम से (सन् १९३१ की रिपोर्ट के अनुसार) २५३ करोड़, ७ करोड़, १३ करोड़, और ३ करोड़ है। इस प्रकार आर्यभाषाएँ ही भारतवर्ष की प्रमुख भाषाएँ हैं। आर्यभाषाओं में लहँदी (८६ लाख), मराठी (२ क० ६ ला०), उड़िया (१ क० १३ ला०), बिहारी (२ क० ७६ ला०), बंगाली (५ क० ३५ ला०), असामी (२० ला०), हिंदी (७ क० ५४ ला०), राजस्थानी (१ क० ३६ ला०), गुजराती (१ क० ६ ला०), पंजाबी (१ क० ३६ ला०), भीली (२२ ला०), पहाड़ी (२८ ला०) गिनी जाती हैं। इनमें भी जनसंख्या और साहित्यिक प्रभाव के कारण मध्यदेश की भाषा हिंदी प्रमुख है। यह बिहार, संयुक्त प्रांत, हिंदी मध्य प्रांत, मध्य भारत, हिमालय के पहाड़ी प्रांत तथा पंजाब की साहित्यिक भाषा है और इस प्रकार पंद्रह-सोलह करोड़ भारतीयों की उच्च भावनाओं के प्रकाशन का साधन है। संसार की प्रमुख भाषाओं में इसका स्थान ऊँचा है।

हिंदी—गठन की दृष्टि से हिंदी की दो उपशाखाएँ हैं—पच्छिमी और पूरबी। पच्छिमी के अंतर्गत बाँगड़, हिंदुस्तानी (खड़ी), बुंदेली और

व्रज—ये चार बोलियाँ हैं, और पूरबी के अंतर्गत दो—अवधी और छत्तीसगढ़ी ।

साहित्य-निर्माण विशेष रूप से व्रज, अवधी और हिंदुस्तानी (खड़ी) में हुआ है । इनके अतिरिक्त मैथिली और राजस्थानी का भी साहित्य हिंदी के ही अंतर्गत समझा जाता है । पंजाबी में कोई उल्लेखनीय साहित्य नहीं है ।

हिंदी की बोलियों में परस्पर भेद की मात्रा बहुत कम है, और जन्म से एक बोली बोलनेवाला हिंदी भाषा-भाषी हिंदी की दूसरी बोली समझ लेता है । हिंदी भाषा-भाषी को पंजाबी, मारवाड़ी, मैथिली आदि के समझने में दिक्कत पड़ती है परंतु पंजाबी, मारवाड़ी, मैथिली आदि के बोलनेवालों को हिंदी के समझ लेने में कोई विशेष बाधा नहीं । यह हिंदी के व्यापक होने का प्रमाण है ।

भाव-प्रकाशन

विक्रम की पहली सहस्राब्दी में ललित साहित्य के निर्माण के लिये संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश सभी का साधन रूप से प्रयोग हुआ । धार्मिक भावों को जनसाधारण तक पहुँचाने के लिये बौद्ध और जैन संप्रदायों ने प्राकृत और अपभ्रंश का आश्रय लिया, पर वैदिक मतावलंबी संस्कृत से ही अटके रहे । जनसाधारण की सुविधा के लिये अवश्य ही सरल संस्कृत में लिखे हुए पुराणों की इसी काल में सृष्टि हुई । दर्शन, आयुर्वेद, ज्योतिष आदि वाङ्मय के अन्य अंगों के साहित्य के लिये केवल संस्कृत भाषा का प्रयोग होता रहा । विक्रम की दूसरी सहस्राब्दी में भी प्रायः यही स्थिति रही, केवल ललित साहित्य और धार्मिक प्रचार के लिये वर्तमान भाषाओं का प्रयोग उत्तरोत्तर बढ़ता रहा और संस्कृत तथा प्राकृत का कालगति से घटता गया । द्वितीय सहस्राब्दी में वाङ्मय के अन्य अंगों के लिये संस्कृत का ही प्रयोग प्रायः आज से दो शती पूर्व तक अनुष्ण रहा । इधर दो शतियों में और विशेष कर पिछले पचास-साठ वर्षों में संस्कृत का एकच्छत्र राज्य वाङ्मय के दर्शन आदि अंगों में भी ढीला पड़ने लगा है ।

ललित साहित्य में हिंदी की बोलियों का प्रयोग समय और स्थान भेद से भिन्न-भिन्न रहा है। मुख्य रूप से हिंदी की स्वकीय बोलियों में से हिंदुस्तानी (खड़ी), ब्रज और अवधी तथा अन्यों में से मारवाड़ी और मैथिली ने काव्य का रूप ग्रहण किया है।

हिंदुस्तानी—वर्तमान काल में हिंदुस्तानी के दो रूप प्रचलित हैं— एक को खड़ी बोली और दूसरे को उर्दू कहा जाता है। ऐसा संभव है कि जो बोली वर्तमान संयुक्त प्रांत के पच्छिमी जिलों में तथा पंजाब के पूरबी भाग में बोली जाती थी वह इतनी व्यापक बनी हो कि सारे उत्तर भारत में अंतःप्रांतीय व्यवहार का माध्यम हो गई हो। यह शौरसेन अपभ्रंश की उत्तरकालीन अधिकारिणी रही होगी। साहित्य में इस बोली के प्रथम प्रयोग के उदाहरण जो अभी तक मिले हैं उनसे पता चलता है कि पहले-पहल मुसलमानों ने इस बोली में रचना की। यह स्वाभाविक ही था, क्योंकि उनकी राजभाषा फारसी साधारण जनता में प्रवेश नहीं कर सकती थी। हर एक विजयी समुदाय को अपना कबजा कायम रखने के लिये यह जरूरी मालूम होता है कि राजकीय संगठन के साथ ही जनता का सहयोग भी मिले। इन नए सुलतानों के साथ इनके धर्म का प्रचार करने के लिये मौलवी और फकीर साधु थे। जनता का प्रेम ये तभी पा सकते थे जब ये उनकी भाषा और रहन-सहन को थोड़ा-बहुत अपनाते। मुसलमान फकीरों ने यही किया। (डा० अब्दुलहक के शब्दों में) 'इन बुजुर्गों के घरों में भी हिंदी बोलचाल का रवाज था और चूंकि यह इनके मुक़ीदे मतलब था इसलिए वह अपनी तालीम व तकलीफ में भी इसी से काम लेते थे'। इसी बोली को मुसलमानों ने फारसी के मुकाबले में 'हिंदुई' (और बाद को 'हिंदी') नाम दिया। पर डाक्टर साहब का यह विश्वास कि यह बोली हिंदुओं और मुसलमानों के मेलजोल से बनी, बिल्कुल बेबुनियाद है। बोली मुसलमानों के यहाँ आने से पहले मौजूद थी। अवश्य ही उसमें यथेष्ट कथा-साहित्य और गीतिकाव्य रहा होगा। पर उच्च श्रेणियों में साहित्य-निर्माण संस्कृत और प्राकृत में थोड़ा-बहुत, पर अपभ्रंश में अधिकांश में होता रहा होगा। अवश्य ही अपभ्रंश भी तत्कालीन लोक-भाषाओं से बहुत दूर जा पड़ा

था। ऐसी परिस्थिति में मुसलमान धर्म-प्रचारकों ने संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश के पढ़ने-पढ़ाने में अपना दिमाग न खपाकर तत्कालीन लोक-भाषा को सीख लेने की कोशिश की और इसमें ये सफल हुए। यह स्वाभाविक ही था कि जब इन्होंने इस बोली में रचनाएँ करनी शुरू कीं तब थोड़े-बहुत फारसी, अरबी शब्दों का अनायास ही समावेश हो गया। जैसे भारतीयों को जरूरत पढ़ने पर संस्कृत के कोश टटोलने पड़ते हैं वैसे ही इन विदेशी लेखकों को अपने देश के खजाने खखोलने पड़े। पृथ्वीराज के पतन के बाद स्वदेशी सभ्यता का केंद्र दिल्ली से हटकर बिखर गया था। अनाश्रित मध्यम वर्ग को मथुरा-वृन्दावन में शरण मिली। रजवाड़ों को राजपूताने की शरण लेनी पड़ी और कुछ अन्य लोग इधर-उधर तितर-वितर हो गए। राजपूताने में ढिंगल भाषा में साहित्य का निर्माण हुआ और मथुरा-वृन्दावन में ब्रज-भाषा में। केंद्र के बिखर जाने से इसी समय गुजराती, मराठी, बंगाली आदि में अलग-अलग साहित्य बनने लगा। इसी समय के थोड़ा-बहुत आगे-पीछे अवधी और मैथिली में भी साहित्य-निर्माण को प्रोत्साहन मिला।

जिस बोली को मुसलमानों ने हिंदुई या हिंदी नाम दिया वह बोली शुद्ध भारतीय और शौरसेन अपभ्रंश की उत्तराधिकारिणी थी। प्रसिद्ध शायर वली औरंगावादी की रचनाओं तक भाषा की दृष्टि से सभी रचनाएँ हिंदी थीं। इनके लेखक बहुधा मुसलमान थे, खयाल विदेशी, पर जामा भारतीय था। ये ग्रंथ फारसी लिपि में लिखे गए, पर देवनागरी या किसी दूसरी भारतीय लिपि में परिवर्तित करते ही स्वदेशी दिखाई देने लगते हैं। खड़ी बोली हिंदी का रूप दो-एक शायरों के थोड़े-बहुत कलामों को छोड़कर पहले-पहल हमें अमीर खुसरो के काव्य में मिलता है। खुसरो प्रसिद्ध औलिया शेख निजामुद्दीन चिश्ती (वि० १२६३-१३८१) के मुरीद और संगीत कला के उस्ताद थे। इन्होंने फारसी में काफी शायरी की है, पर हिंदी में भी कुछ मारके की चीजें कही हैं। इनके पहले के कई फकीरों (शेख फरीदुद्दीन शकर-गंजी आदि) के फुटकल दोहे, शेर आदि हिंदी में मिलते हैं पर इतनी कम सामग्री से उन्हें साहित्यकार की पदवी नहीं दी जा सकती। खुसरो ने अपने पूर्ववर्ती कवि मसूद का भी उल्लेख किया है। ये हजरत विक्रम की बारहवीं

शती (हिजरी ४५१) के कवि थे पर इनकी कोई कविता नहीं मिलती । उत्तर भारत की अपेक्षा इस हिंदी का प्रयोग साहित्य-निर्माण के लिये दक्खिन की मुसलमानी रियासतों में काफी हुआ । सुलतान अलाउद्दीन खिलजी के सेनापति मलिक काफूर ने महाराष्ट्र, आंध्र और कर्णाटक नाम के राज्यों पर विजयी होकर विक्रम की चौदहवीं शती में इन प्रदेशों को दिल्ली के सुलतानी राज्य में शामिल कर दिया । पर ये दक्खिनी प्रदेश लगभग चालीस साल तक ही दिल्ली के राज्य में शामिल रहे । इसके बाद स्वतंत्र बहमनी राज्य कायम हुआ । प्रसिद्ध इतिहासकार फरिश्ता का कहना है कि बहमनी राज्य की राजभाषा हिंदी थी । इससे जाहिर है कि उत्तर भारत से जो सैनिक और सेनापति दक्खिन गए वे अधिकतर हिंदी ही बोलते रहे होंगे । बहमनी राज्य की ओर से जो आश्रय हिंदी भाषा को मिला वह उस राज्य के छिन्न-भिन्न होकर बीजापुर, गोलकुंडा, अहमदनगर, बरार और बीदर—इन पाँच राज्यों में बँटकर भी कायम रहा और तीन सौ साल बाद मुगल साम्राज्य में शामिल हो जाने पर भी अन्तुर्गण रहा । मुगल साम्राज्य से स्वतंत्र हो जाने पर भी निजाम राज्य की भाषा के बारे में वही नीति अब तक चली आ रही है ।

औरंगजेब आलमगीर के शासन-काल में वली औरंगाबादी दो बार दिल्ली आए । दिल्ली के मुसलमानी राजकीय व्यवहार में अब तक फारसी का ही बोलबाला था । वली की हिंदी भाषा की सफल कविता को देखकर मुगल-दरबार के कवियों की आँखें खुलीं और उन्होंने भी हिंदी (हिंदुई, रेखता) में कविता करना शुरू कर दिया । इनका फारसी भाषा से अधिक गहरा संबंध था, इसलिये इनकी हिंदी दक्खिनी की अपेक्षा अधिक फारसी मिश्रित बन पड़ी । इनके भाव, छंद, अलंकार, उपमाएँ आदि भी फारसी की छाया लिए हुए थीं । फारसी के ढंग पर इनका माशूक भी पुंलिंग हुआ । इस तरह यह वस्तुतः सर्वथा फारसी कविता का हिंदुस्तानी रूप साबित हुई । इस कविता की भाषा बाद को उर्दू कहलाई और आज भी उर्दू नाम से पुकारी जाती है ।

शौरसेन अपभ्रंश की उत्तराधिकारिणी जिस बोली का आदि मुसलमान संतों ने आश्रय लिया था और जो दक्खिन में उत्तर भारत के सैनिकों के

साथ जाकर राजभाषा बनी थी, वह उत्तर भारत में प्रायः सर्वत्र अंतःप्रांतीय व्यवस्था के लिये और दिल्ली के आसपास बोलचाल के लिये भी प्रयोग में आती थी, यह अनुमान युक्तिसंगत मालूम पड़ता है। इस बोली का पुट विक्रम की चौदहवीं शती के संत कवि कबीर के अवधी भाषा के काव्य में कुछ-कुछ मिलता है। इससे अधिक पुट ग्रंथसाहब में संकलित संतों के पद्यों में भी मिलता है। और संभव है कि इसमें ऐसी अन्य रचनाएँ भी रही हों जिनका अब पता नहीं है। विक्रम की बीसवीं शती में अनेक कारणों से यही बोली फिर चमक उठी और विशुद्ध भारतीय रूप धारण कर तथा जरूरत पड़ने पर संस्कृत के भांडार से निरसंकोच सामग्री पाकर आज खड़ी बोली, राष्ट्रभाषा, आर्यभाषा, उच्च हिंदी अथवा हिंदी के नाम से प्रचलित है।

इस विवेचन से स्पष्ट है कि हिंदी नाम पुराना है और आज उर्दू नाम देनेवाले लोग पिछले समय में हिंदी नाम का प्रयोग करते थे। उस हिंदी में नव्वे प्रतिशत शब्द भारतीय थे तथा फारसी-अरबी के शब्द इने-गिने थे। भाव-प्रकाशन के लिये छंद और अलंकारों के लिये उपमान आदि भी भारतीय थे। उर्दू का जो रूप आज हमारे सामने रखा जाता है वह अपेक्षाकृत अर्वाचीन है और है फारसी की जूठन। भाषाविज्ञानी हिंदी और उर्दू दोनों को एक ही भाषा—हिन्दुस्तानी मानते हैं और इसी अर्थ में इस लेख में इस शब्द का प्रयोग किया गया है।

व्रज—व्रज भाषा का साहित्य में प्रयोग राजकीय संरक्षा से न होकर धार्मिक प्रोत्साहन से हुआ। श्रीवल्लभाचार्य ने वैष्णव मत का उत्तर भारत में विशेष प्रचार किया और मथुरा-वृंदावन को उसका केंद्र बनाया। यहाँ से कृष्ण-भक्ति के काव्य की सरस धारा बही। सूरदास के पदों का मूल्यांकन किया जाय तो वे विश्व-साहित्य में अद्वितीय ठहरेंगे। इनकी परिपाटी पर अन्य बहुतेरे भक्तों ने पद लिखे हैं। यह भक्ति-धारा बहुत दिनों तक प्रवाहित होती रही।

एक बार साहित्य के निर्माण के लिये गृहीत होकर व्रज भाषा राज-कवियों के काव्य की भाषा बनी और प्रायः सारा का सारा रीतिकालीन

काव्य इसी में है। केशव, बिहारी, देव, मतिराम, सेनापति आदि इसके प्रमुख कवि हुए।

ब्रज भाषा का प्रयोग वीर-काव्य के लिये भी हुआ। इस क्षेत्र के प्रमुख कवि भूषण हुए।

अवधी—अवधी की प्रथम रचना कबीर के पदों में मिलती है। प्रबंध काव्य में अवधी का सफलतापूर्वक प्रथम प्रयोग मलिक मुहम्मद जायसी ने किया। इनकी 'पदमावत' की रचना हिजरी सन् ६४७ (वि० १५६७) में हुई। इसमें एक प्रेमगाथा को आधार मानकर सूफीमत का प्रचार काव्य के द्वारा किया गया है। यह फारसी मसनवी के ढंग की रचना है।

गौस्वामी तुलसीदास ने 'रामचरित-मानस' रचकर अवधी भाषा को अमर कर दिया। इसमें अपभ्रंश के चरित-काव्यों की छाया है।

अवधी में कई अन्य ग्रंथ भी बने। पर यह साहित्यिक भाषा के रूप में चिरस्थायी न रह सकी।

मारवाड़ी और मैथिली—हिंदी प्रांतों के बाहर मारवाड़ी और मैथिली का साहित्य हिंदी से बहुत कुछ संबद्ध है और उसी के अंतर्गत समझा जाता है। मारवाड़ी में वीरगाथा (रासो) काव्य राजपूताने के नरेशों के दरबारों में बने। सबसे प्रसिद्ध चंद कवि का 'पृथ्वीराज रासो' है।

मारवाड़ी में ही प्रसिद्ध भक्त कवयित्री मीरा के पद हैं जो सरसता और मिठास में अद्वितीय हैं।

मैथिली में कई शाखाओं का साहित्य है। इसके सबसे प्रसिद्ध कवि विद्यापति ठक्कुर हैं।

आज की दशा—आज विक्रमी संवत् के दो सहस्र वर्ष बीत जाने पर हमें अपनी अवस्था का सिंहावलोकन करना चाहिए। संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश की पूर्वकालीन रचनाएँ हमारी बहुमूल्य निधि हैं। उनसे सदा ही हम लाभ उठा सकेंगे। पर इन पूर्ववर्ती भाषाओं में आज रचना नहीं हो सकती, ये जनसाधारण की भाषा से बहुत दूर जा पड़ी हैं। ब्रज और अवधी अथवा मारवाड़ी और मैथिली में प्रांतीय भावनाओं की संकुचित दृष्टि से भले ही कुछ रचनाएँ होती चले पर भविष्य खड़ी बोली के हाथ में है।

खड़ी बोली को विक्रम करना है। भारतेंदु हरिश्चंद्र ने मार्ग दिखा दिया। आज वह काव्य का उत्तम साधन है। काव्य-शैली को अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध', मैथिलीशरण गुप्त, जयशंकर 'प्रसाद', सुमित्रानंदन पंत, महादेवी वर्मा, सूर्यकांत त्रिपाठी 'निराला' आदि कवियों ने मँजा है। अब वह प्रगतिशील कवियों के हाथ में है। गद्य को सदल मिश्र और लल्लूजी लाल ने उपस्थित किया था और महावीरप्रसाद द्विवेदी और प्रेमचंद ने उसे दुरुस्त किया।

खड़ी बोली को इससे भी आगे बढ़ना है। ललित साहित्य के लिये मँजी हुई शैलियाँ हैं, पर वाङ्मय के अन्य अंगों के लिये भी हमें उसे उपयुक्त बनाना है। उसके सामने वैज्ञानिक पारिभाषिक शब्दों की समस्या है। वह कल के स्वतंत्र राष्ट्र की राष्ट्रभाषा है, इसलिये उसे ऐसा सुंदर और भव्य रूप धारण करना है जो राष्ट्र के सभी अंगों को अपना ही दिखाई दे और पूरा संतोष दे सके। ये समस्याएँ हिंदी के सामने हैं।

संस्कृत भारतवर्ष के उच्च भावों को व्यक्त करने में सर्वथा समर्थ थी। उसी में अखंड तत्त्व ब्रह्म को समष्टि रूप से और परमाणु तक को व्यष्टि रूप से सुंदर शब्दों में प्रदर्शित करने की शक्ति थी। आज वह उत्तराधिकार हिंदी को मिला है। हिंदी-भाषा-भाषियों को पूर्ण आत्मविश्वास है कि उनकी विक्रमशील भाषा यह उत्तरदायित्व निभा सकेगी। तथास्तु।

‘आलम’ और उनका समय

श्री विश्वनाथप्रसाद मिश्र

हिंदी-साहित्य के आधुनिक इतिहास-ग्रंथों में सबसे प्रथम ‘शिवसिंह-सरोज’ में ‘आलम’ का उल्लेख मिलता है। इस इतिहास के प्रणेता ठाकुर शिवसिंह सेंगर ने ग्रंथ के पूर्व खंड में ‘आलम’ की रचना में से निम्नांकित सवैया उद्धृत किया है, जिसमें मोजमशाह (मुअज्जमशाह) की प्रशस्ति है—

जानत औलि किताबन कों जे निसाफ के माने कहे हैं ते चीन्हे।

पालत हौ इत आलम कों उत नीके रहीम के नाम कों लीन्हे ॥

मोजमशाह तुम्हें करता करिवे को दिलीपति हैं वर दीन्हे।

काबिल हैं ते रहैं कितहूँ कहुँ काबिल होत हैं काबिल कीन्हे^१ ॥

इस सवैये में किसी ऐसी घटना की ओर संकेत है जो मुअज्जमशाह के प्रति औरंगजेब की अनुकूलता और उसके अन्य भाइयों की ओर वादशाह की प्रतिकूलता व्यक्त करनेवाली थी। मध्यकालीन भारत के इतिहास-ग्रंथों से यह स्पष्ट है कि औरंगजेब अपने पुत्रों में से इसे (मुअज्जमशाह को) विशेष चाहता था। उसे इसकी पूरी आशंका थी कि कहीं मेरे देहावसान के अनंतर साम्राज्य के विभाजन के लिये रक्तपात न हो। इसीलिये कहा जाता है कि वह अपना आंतरिक अभिप्राय अपनी मरणशय्या पर पत्र में लिखकर रख गया था। इसमें मुअज्जमशाह को उसने सबसे बड़ा भाग देने की बात लिखी थी, साम्राज्य का विभाजन करने का निषेध किया था। यही मुअज्जमशाह उसकी मृत्यु के पश्चात् बहादुरशाह के नाम से शासक बना। औरंगजेब इसे ही अपनी प्रकृति की प्रतिकृति समझता था। साम्राज्य का शासन करते हुए

१— शिवसिंह-सरोज (नवलकिशोर प्रेस, लखनऊ), सप्तम संस्करण (सन् १९२६), पृष्ठ १०।

२— विलियम इरविन कृत ‘लेटर मुगल्स’, खंड १, पृष्ठ ६।

सांप्रदायिक धर्मभाव को जागरित रखने का जैसा कठोर व्रत उसने लिया था वैसा ही मुअज्जमशाह ने भी। आलमगीर (औरंगजेब) का दुलारा ‘शाहआलम’ (औरंगजेब का रखा हुआ मुअज्जमशाह का प्यार का नाम) भी उसी के अनुरूप था। वह साम्राज्य के शासन की क्षमता के साथ धर्म की सांप्रदायिकता भी बनाए रखनेवाला था। कवि ने इसी का संकेत सवैया के दूसरे चरण में किया है। शासन करते हुए, संसार (आलम) को पालते हुए भी आप ‘रहीम’ (खुदा) का नाम लेते रहते हैं, तसबीह लिए उस परवरदिगार को जपा करते हैं, ठीक औरंगजेब की पद्धति पर। औरंगजेब की मृत्यु के अनंतर संवत् १०६४ (सन् १७०७) में वह बादशाह बना और संवत् १०६६ (सन् १७१२) में जाजमऊ के युद्ध में मार डाला गया^१। इसलिये यह सवैया संवत् १०६३-४ के इधर उधर किसी समय निर्मित हुआ होगा।

इस सवैया में प्रयुक्त ‘आलम’ शब्द को ठाकुर साहब ने कवि का नाम माना है। यदि यह कवि का नाम माना जाय तो ‘पालत हौ इत आलम को’ चरणान्तर में ‘आलम’ शब्द को बिना द्व्यर्थक माने कोई चमत्कार न रह जायगा। इसमें जो विशेष चमत्कार है वह ‘आलम’ के अर्थ ‘जगत्’ के ही कारण। ‘रहीम’ पद की ओर ध्यान दें तो स्पष्ट लक्षित होता है कि कवि ‘जगत्’ की लौकिक क्षमता और ईश्वर-चितन की अलौकिक योग्यता रूपी विरोधिनी अंतःशक्तियों की युगपत् स्थिति पर ही दृष्टि आकृष्ट करने का इच्छुक है। वह ऐहिक और आमुष्मिक साधनों के विलक्षण संयोग को लक्ष्य करके उसकी असाधारणता की प्रतिष्ठा करने का अभिलाषुक है। इस विचार से ‘आलम’ का यहाँ प्रधान अर्थ ‘जगत्’ ही ठहरता है। आलम के नाम से प्रकाशित किसी ग्रंथ में या उनके नाम से उपलब्ध किसी हस्तलिखित ग्रंथ में यह सवैया नहीं मिलता। यदि ‘आलम’ के प्रयोग से, जिसका मुख्य अर्थ यहाँ ‘जगत्’ है, इसे आलम कवि की रचना घोषित किया जायगा तो इसी चरण में प्रयुक्त ‘रहीम’ को द्व्यर्थक मानकर कोई इसे ‘रहीम’ की रचना मानने में भी तत्पर हो सकता है। कवि का काव्य-प्रयुक्त नाम (उपनाम या छाप) कहीं किसी भी अर्थ में

१—श्रीधर कृत ‘जंगनामा’।

देखकर उसे कवि की ही कृति स्वीकृत कर लेने से इतिहास में अन्यवस्था हो सकती है। इसे आलम की रचना स्थिर करके और इसमें मुअज्जमशाह की प्रशस्ति देखकर 'सरोज' में इनका समय 'सं० १७१२' माना गया है^१।

१७१२ संख्या भी विचार की अपेक्षा करती है। 'शिवसिंह-सरोज' में उल्लिखित सन्-संवत्तों को हिंदी-साहित्य के इतिहास प्रायः विक्रमी संवत् और कवि का जन्मकाल मानते हैं। जन्मकाल मानने का हेतु यह है कि 'सरोज' के उत्तर खंड में प्रत्येक कवि के नाम के साथ जो समय की संख्या संलग्न है उसके अनंतर मुद्रित है 'में ३०'। विक्रमी संवत् मानने का हेतु यह है कि प्रत्येक नाम के आगे 'सं०' लिखकर संवत् की संख्या दी गई है। 'सं०' संवत् का ही संक्षेप माना गया है और 'संवत्' का अर्थ गृहीत हुआ है 'विक्रमी संवत्'। साहित्य के इतिहास-लेखकों का ही अनुगमन किया जाय तो १७१२ आलम कवि का जन्मकाल निश्चित हुआ। इसके आधार पर एक ओर कवि का रचनाकाल लगभग १७३५ से १७७० तक मानना पड़ेगा और दूसरी ओर, यह रचना चाहे जिसकी हो, रचयिता मुअज्जमशाह के जीवनकाल में उनका दरबारी हो सकता है।

पर 'शिवसिंह-सरोज' में दिए हुए सन्-संवत्तों के संबंध में पूरी छान-बीन न होने के कारण मुद्रित ग्रंथ को प्रामाणिक और दिए गए संवत् के अंकों को विक्रमी तथा जन्मकाल मान लेने में बड़ी बड़ी बाधाएँ हैं। स्वयं लेखक ने अपनी भूमिका में स्पष्ट लिखा है कि 'सरोज' में दिए हुए सन्-संवत् कवियों के विद्यमान होने के सन्-संवत् हैं और या तो कवियों के ग्रंथों से लिए गए हैं या इतिहास से उद्धृत किए गए हैं^२। जहाँ कहीं ऐसे आधारों से काम नहीं चला वहाँ अनुमान से रखे गए हैं^३ और जहाँ किसी प्रकार का सूत्र नहीं मिला वहाँ केवल नामोल्लेख किया गया है, सन्-संवत् दिए ही नहीं गए। वास्तविक स्थिति यह है कि ठाकुर साहब ने ये सन्-संवत् उठाकर ज्यों के त्यों रख दिए हैं। कहीं भी सन् और संवत् को पृथक् करने का यत्न

१—शिवसिंह-सरोज, पृष्ठ ३८०।

२—वही, भूमिका, पृष्ठ २।

‘आलम’ और उनका समय

३७

नहीं किया। वस्तुतः ‘सं०’ का अर्थ यथास्थान ‘विक्रमी संवत्’ और ‘ईसाई संवत्’ दोनों ही हैं, अन्यथा भूमिका में सन्, संवत् शब्द का एक तो व्यवहार ही व्यर्थ था दूसरे पुराने अंगरेजी या उर्दू के ऐतिहासिक ग्रंथों में विक्रमी संवत् का व्यवहार होता भी नहीं रहा है। वहाँ प्रायः ईसाई संवत् अर्थात् सन् का ही व्यवहार हुआ है। उर्दू या फारसी के मध्यकालीन पुराने इतिहास-ग्रंथों में तो हिजरी या फसली अर्थात् मुहम्मदी संवत् का व्यवहार ही मिलता है। इसे भी ‘सन्’ कहते हैं। पूरी छानबीन करने पर ‘हिजरी सन्’ के लिये रखा हुआ कोई अंक ग्रंथ के इस भाग में नहीं मिलता। पर ईसाई सन् के व्यवहार के प्रमाण और उद्धृत संवत् या सन् के रचनाकाल होने के शतशः प्रमाण मिलते हैं।

सबसे पहला नाम ‘अकबर’ का है, क्योंकि ग्रंथ में नाम अक्षर-क्रम से दिए गए हैं। छानबीन के लिये इसी कवि का ‘संवत्’ जाँचने से वास्तविकता का पता चल जायगा। लेखक ने अकबर के नाम के साथ ‘सं० १५८४’ दिया है। इतिहास से ज्ञात है कि अकबर का जन्म ईसाई संवत् १५४३ में हुआ था। वह सन् १५५६ में गद्दी पर बैठा और सन् १६१६ में परलोक सिधारा। यदि १५८४ को विक्रमी संवत् ठहराएँ तो ईसाई संवत् या सन् १५२७ हुआ, पर उस समय तक तो अकबर का जन्म ही नहीं हुआ था। उस समय हिजरी सन् ९२०-२१ था। अतः यह हिजरी संवत् या सन् भी नहीं है। इसे ईसाई संवत् मानने से यह स्पष्ट हो जायगा कि यह समय अकबर के जीवनकाल में पड़ता है। इस समय अकबर ४१ वर्ष का था। यह समय उसके रचनाकाल के अनुकूल है। इस ग्रंथ में अकबर के दरबारी सभी कवियों का समय १५८० या १५८४ रखा गया है। इसलिये वहाँ भी उन अंकों को ईसाई सन् और रचना का काल मानकर ही कवियों के जीवनकाल से विधि बैठाई जा सकती है। इसमें आश्रयदाताओं के सन्-संवत् कई कवियों के सन्-संवत् के रूप में उद्धृत किए गए हैं। इतिहास-ग्रंथों से यदि उद्धृत किए गए हैं तो वे ईसाई सन् ही हैं, विक्रमी संवत् नहीं। प्रश्न उठता है कि सन्-संवत् को ईसाई या विक्रमी मान भी लिया जाय तो ग्रंथ में मुद्रित ‘में उत्पन्न हुए’ या ‘में उ०’ का कोई कारण अवश्य होना

चाहिए। 'सरोज' की मूल प्रति तो कहीं खोजने पर भी नहीं मिली, पर उसकी एक हस्तलिखित प्रतिलिपि का विवरण 'हिंदी के हस्तलिखित ग्रंथों की खोज' में दिया गया है। खोज रिपोर्ट में जो अंश उद्धृत किए गए हैं उनमें कहीं भी 'में उ०' या 'में उत्पन्न हुए' नहीं है। कहीं 'सं०' के साथ अंक लिखे हैं, कहीं बिना 'सं०' के अंक हैं। जहाँ विक्रमी संवत् अभिप्रेत है वहाँ 'सं०' है और जहाँ 'सन्' है वहाँ कुछ नहीं लिखा है, केवल अंक दे दिए गए हैं। इससे स्पष्ट है कि नवलकिशोर प्रेस से जिस समय इसका मुद्रण हुआ उस समय संपादक ने यह सब अपनी ओर से बिना पूर्वापर और कालदूषण का विचार किए ही जोड़ दिया।

'सरोज' के पूर्वार्द्ध या पूर्व खंड में बहुत से उद्धरण कवियों के ग्रंथों से दिए गए हैं, उत्तर खंड में दिए अंकों से मिलान करने पर स्पष्ट दिखाई देता है कि जहाँ जहाँ इन उद्धरणों में कवियों के ग्रंथों का रचनाकाल आया है वहाँ वहाँ दोनों स्थानों पर संवत् एक ही है। इससे भी सिद्ध है कि 'सरोज' में काव्यों का रचनाकाल ही दिया गया है। इस ग्रंथ के संवत्‌ों को जन्मकाल मानकर हिंदी-साहित्य के इतिहास-ग्रंथों में जिन जिन कवियों का कालनिर्णय किया गया है उनके समय का संशोधन अब अनिवार्य हो गया है। इस प्रकार स्पष्ट है कि इसमें लेखक ने कवियों के रचनाकाल का ही उल्लेख किया है और जहाँ इतिहास-ग्रंथों के आधार पर कालनिर्णय दिया गया है वहाँ प्रायः ईसाई संवत् या सन् का ही उल्लेख है। इस प्रकार 'आलम' के लिये जो संवत् दिया गया है वह उनका रचनाकाल है और इतिहास-ग्रंथ से देने के कारण वह ईसाई सन् ही है। अतः यह १७१२ मुअज्जमशाह के मृत्युकाल का ईसाई सन् ही है, इसमें संदेह नहीं रह जाता।

इसी आधार पर हिंदी-साहित्य में 'आलम' का उल्लेख, क्या साहित्य के इतिहासों में क्या अन्यत्र, सर्वत्र मुअज्जमशाह का समसामयिक मान कर ही होने लगा। सन् १६०३ की खोज रिपोर्ट में 'आलम' के काव्य-संग्रह 'आलम-केलि' का पता पहले पहल चला। महाराज बनारस के राजकीय

१—हिंदी के हस्तलिखित ग्रंथों का त्रैवार्षिक विवरण, सन् १६२३-२५।

‘आलम’ और उनका समय

३६

पुस्तकालय ‘सरस्वती-भंडार’ में उस समय यह ग्रंथ सुरक्षित था। उसकी पुष्पिका में ग्रंथ का लिपि-काल संवत् १७५३ आश्विन कृष्ण ८, शुक्रवार दिया हुआ था। इसलिये ‘आलम’ को संवत् १७५३ के लगभग उपस्थित माना गया और ‘शिवसिंह-सरोज’ के अनुसार इन्हें मुअज्जमशाह (बहादुरशाह) का आश्रित घोषित किया गया। संवत् १६७० (सन् १६१३) में हिंदी-साहित्य का बृहत् इतिहास-ग्रंथ ‘मिश्रबंधु-विनोद’ प्रकाशित हुआ। इसमें भी ‘सरोज’ के आधार पर ‘आलम’ का काव्य-काल संवत् १७४० से संवत् १७४० विक्रमी माना गया। संवत् १६७६ में स्वर्गीय लाला भगवानदीन ने ‘आलम-केलि’ नामक आलम का काव्य-संग्रह प्रकाशित कराया। जिस हस्तलिखित प्रति के आधार पर इसका प्रकाशन हुआ उसकी पुष्पिका में भी लिपि-काल यों दिया हुआ है—

‘इति श्री आलम कृत कवित्त आलम केलि समाप्तम्।

संवत् १७५३ समये आसन् वदी अष्टमी वार सुक्र।’

इस लिपि-काल की ‘आलम’ के इतिहाससंमत रचनाकाल से संगति बैठाने के लिये उन्होंने यह कल्पना की कि “‘आलम’ और ‘सेख’ का कविताकाल साधारणतः सं० १७४० से सं० १७७० तक माना जाता है। यह हस्तलिखित प्रति जिसके अनुसार यह पुस्तक छपी है सं० १७५३ की लिखी हुई है। इससे यह स्पष्ट है कि इसमें वे ही छंद संग्रहीत हैं जो उस समय तक बन चुके थे। यही कारण है कि इसमें ‘आलम’ और ‘सेख’ के कुछ अधिक प्रख्यात कवित्त (जो इस संग्रह के बाद रचे गए होंगे) नहीं मिलते। उदाहरणवत् ‘आलम’ के ये मशहूर छंद इसमें नहीं हैं। ×××× इसका कारण यही जान पड़ता है कि वे छंद इस हस्तलिपि के बाद की रचनाएँ हैं। यह हस्तलिपि ‘आलम’ के जीवन-काल में ही उनके किसी शिष्य या भक्त द्वारा लिखी गई है। अतः हमें तो अत्यंत प्रामाणिक जँचती है।”

१—आलम-केलि, भूमिका। ‘इंडियन एफिमरीज’ के अनुसार गणना करने पर संवत् १७५३ के आश्विन कृष्ण की अष्टमी शुक्रवार को ही पड़ती है (पृष्ठ १७०, २६६)। इसलिये लिपि-काल निर्दुष्ट है।

सन् १६०४ में 'खोज' के सिलसिले में महाराज बनारस के ही राजकीय पुस्तकालय 'सरस्वती-भंडार' में 'आलम' की 'माधवानल-कामकंदला' नामक प्रेम-कथा दोहे-चौपाइयों में लिखी हुई मिली थी। 'खोज' के तत्कालीन निरीक्षक बाबू श्यामसुंदरदासजी ने उसमें उल्लिखित रचनाकाल ६६१ हिजरी (सन् १५८३) के आधार पर यह घोषणा की थी कि हिंदी में एक नहीं दो 'आलम' हैं, क्योंकि 'माधवानल-कामकंदला' में अकबर और उनके भू-व्यवस्थापक टोडरमल का उल्लेख है। साहित्य के इतिहास-लेखकों की दृष्टि उस समय-उधर नहीं गई थी, क्योंकि संवत् १६८६ (सन् १६२६) में नागरी-प्रचारिणी सभा द्वारा प्रस्तुत 'हिंदी शब्द-सागर' की भूमिका में एक ही 'आलम' का उल्लेख है और वे मुअज्जमशाह के समकालीन माने गए हैं, पर संवत् १६६४ (सन् १६३६) में जब 'मिश्रबंधु-विनोद' का द्वितीय प्रवर्धित संस्करण प्रकाशित हुआ तो उसमें इसका विवेचन किया गया और कहा गया कि यदि 'सरोज' में उल्लिखित 'मोजमशाह' का तात्पर्य मुअज्जमशाह (बहादुरशाह) से ही हो, जो औरंगजेब का पुत्र था, तो निश्चय ही दो 'आलम' होने की संभावना है^१। मुंशी देवीप्रसाद जी एक ही 'आलम' मानते थे और उन्हें अकबर का समसामयिक स्वीकार करते थे। इन 'आलम' के ५०० छंद भी उनके पास थे^२। पंडित रामचंद्रजी शुक्ल ने 'हिंदी साहित्य का इतिहास' संवत् १६६७ में संशोधित और प्रवर्द्धित किया। इसमें उन्होंने दो 'आलम' स्पष्ट स्वीकार लिए—एक अकबर के समसामयिक और 'माधवानल-कामकंदला' के प्रणेता प्रबंधकाव्यकर्ता और दूसरे मुअज्जमशाह के समसामयिक और 'आलम-केलि' के कर्ता मुक्तक-रचनाकार। 'हिंदुस्तानी एकेडमी' से संवत् १६६८ (सन् १६४१) में 'हिंदी कवि और काव्य' नामक ग्रंथ प्रकाशित हुआ। इसमें भी दो 'आलम' स्वीकृत किए गए और 'माधवानल-कामकंदला' को अकबर के समसामयिक 'आलम' की रचना बताया गया। सन् १६२३-२५ की खोज रिपोर्ट में 'आलम' की 'माधवानल-कामकंदला' की

१—मिश्रबंधु-विनोद, द्वितीय संस्करण, पृष्ठ ५३२।

२—वही, पृष्ठ ५३५।

दूसरी प्रति मिली। इसके अनुसार ‘खोज’ में भी दो आलम पृथक् पृथक् मान लिए गए (यह रिपोर्ट अभी प्रकाशित नहीं की गई है)। इसमें उल्लिखित प्रति ‘माधवानल-कामकंदला’ की अन्य प्रतियों से भिन्न है। काशी नागरीप्रचारिणी सभा के आर्यभाषा पुस्तकालय में भी ‘माधवानल-कामकंदला’ की एक हस्तलिखित प्रति है। इसमें अकबर और टोडरमल का उल्लेख है और ग्रंथ के आरंभ करने का समय ६६१ हिजरी दिया गया है—

दिल्लीपति अकबर सुरताना । सप्त दीप मैं जाकी आना ।

×

×

×

आगे नेक महापति मंडन । नृप राजा टोडरमल दंडन ।

×

×

×

सन् नौ सै इक्या(व)नवै आही । कहौं कथा अब बोलौं ताही ।

इस प्रकार हिंदी में अब दो ‘आलम’ माने जाते हैं। ‘आलम’ के संबंध में यह जनश्रुति है कि ये पहले सनाढ्य ब्राह्मण थे और शृंगारी कविता किया करते थे। एक बार एक दोहे का निर्माण कर रहे थे जिसका एक ही ‘दल’ बन सका—‘कनक छरी सी कामिनी काहे को कटि छीन’। यह एक चिट पर लिख लिया गया और दूसरे ‘दल’ की स्फुरणा न होने से पगड़ी की खूँट में बाँध दिया गया। उसी में बँधा रह गया। पगड़ी रँगने के लिये किसी मुसलमान रँगरेजिन को दे दी गई जिसका नाम ‘शेख’ था। रँगरेजिन ने पगड़ी के छोर में कुछ बँधा देखा, तो खोला और उसमें बँधी हुई चिट में कुछ लिखा पाया। उसे बाँचकर उसने समझ लिया कि कवि जी ने यह चिट इसी अभिप्राय से बाँध रखी है कि किसी समय दोहा पूरा किया जायगा। ‘शेख’ को भी कविता का शौक था। उसने दोहे का दूसरा ‘दल’ पूरा करके और उसी चिट पर लिखकर पगड़ी रँग जाने पर उसके छोर में ज्यों की त्यों चिट बाँधकर लौटा दी। कवि ने पगड़ी के छोर पर गाँठ देखकर उसे खोला और अपने अधूरे दोहे की पूर्ति इस प्रकार पाई—‘कटि को कंचन काटि बिधि कुचन मध्य धरि दोन ।’ कहते हैं, ब्राह्मण देवता उस रँगरेजिन की रचना पर

रीक्त गए और अंत में उसी के प्रेम के कारण उन्हें 'आलम' हो जाना पड़ा।

'खोज' में मिले 'आलम' के काव्य-संग्रहों और 'आलम-केलि' की मुद्रित तथा हस्तलिखित प्रतियों में 'आलम' के साथ 'शेख' नाम की छाप के छंद भी मिलते हैं। इससे इस बात की पुष्टि होती है। शिवसिंह सेंगर ने 'आलम' के रँगरेजिन से प्रेम करने और फल-स्वरूप ब्राह्मण से मुसलमान हो जाने का उल्लेख तो किया है, पर रँगरेजिन के नाम का उल्लेख नहीं किया है। 'सरोज' में 'शेख' नाम के कवि का उल्लेख अवश्य है। यह लिखा है कि इनकी रचनाएँ कालिदास के हजारों में मिलती हैं। इस प्रकार शिवसिंह सेंगर 'आलम' की प्रेम-कथा तो जानते थे, पर यह नहीं जानते थे कि रँगरेजिन का नाम 'शेख' था, उनको 'आलम-केलि' का पता नहीं था। यदि पता होता तो उन्होंने एक तो उसका उल्लेख अवश्य किया होता, दूसरे 'आलम-केलि' में 'आलम' और 'शेख' दोनों की रचनाएँ समाविष्ट हैं, इसलिये 'शेख' को पृथक् रखते हुए वे कदाचित् दोनों के संबंध पर भी विचार करते। एक ही ग्रंथ में दो छापों के मिलने से या तो यह माना जाय कि दोनों एक ही व्यक्ति के दो नाम हैं या दो पृथक् पृथक् कवियों के नाम हैं। पहली बात की संभावना इसलिये नहीं है कि हिंदी में यदि कवि के दो नाम मिलते भी हैं तो वे दोनों बहुत मिलते-जुलते या पर्याय होते हैं, जैसे—रसिक-बिहारी-रसिकेश, चिंतामणि-लालमणि, घनआनंद-आनंदघन आदि। फिर भी कुछ महाशयों ने इस प्रकार की भी कल्पना की है। हमें तो दूसरी संभावना ही ठीक जान पड़ती है, अर्थात् ये नाम पृथक् पृथक् व्यक्तियों के हैं। यह तो कोई नहीं कह सकता कि किंवदंती अक्षरशः ठीक ही होती है, पर यह मानने में कोई आपत्ति न होनी चाहिए कि आनुश्रविक वृत्तों में पुष्ट ऐतिहासिक तथ्यों के विरोध के बिना अविश्वास कर लेना भी ठीक नहीं। 'सरोज' के पूर्व खंड में 'शेख' के दो कवित्त भी दिए गए हैं।^१ ये दोनों ही कवित्त 'आलम-केलि' में थोड़े से पाठांतरों के साथ ज्यों के त्यों मिल जाते हैं।^२ इसलिये यह सिद्ध है कि 'सरोज' में जिन 'शेख' का उल्लेख है वे 'आलम' से संबद्ध

१—शिवसिंह-सरोज, पृष्ठ ३४२।

२—आलम-केलि, पृष्ठ ५३, १३६।

'शेख' ही हैं। 'शेख' की रचना 'आलम' की रचना से भिन्न दिखाई देती है। वह 'आलम' की रचना से उत्कृष्ट बन पड़ी है। 'आलम' की शब्दावली और 'शेख' की पदावली में ही भेद हो, यह नहीं, अभिव्यंजना-प्रणाली में भी भेद है। मूर्ति-विधान में भी भिन्नता दिखाई देती है। 'आलम' की कल्पना अधिकतर मूर्ति-विधान के पारंपरिक पथ पर ही चलती है, पर 'शेख' की भावना नूतन पथ की उद्भावना में प्रवृत्त रहती है। इससे भी 'शेख' का 'आलम' से पार्थक्य सिद्ध होता है।

'सरोज' में 'शेख' का रचनाकाल १६८० दिया गया है, और जैसा कहा जा चुका है, यह बताया गया है कि इनकी रचना कालिदास के हजारों में मिलती है। कालिदास के हजारों में स्वयं शिवसिंह सेंगर के ही शब्दों में 'सं० १४८० से लेकर अपने समय तक, अर्थात् संवत् १७७५ तक के कवियों के एक हजार कवित्त' संनिविष्ट हैं।^१ कालिदास का यह हजारों अप्राप्य है। 'खोज' में भी इसकी किसी हस्तलिखित प्रति का आज तक पता नहीं चला। सेंगर जी के पास यह था। 'सरोज' में कुल ७५ कवियों के विवरणों में इस ग्रंथ का उल्लेख किया गया है। हजारों में २१२ कवियों की रचनाएँ संगृहीत हैं, यह स्वयं सरोजकार ने लिखा है।^२ जिन कवियों का पता अन्य साधनों से चला या जिनका समय-निरूपण उनके ग्रंथों अथवा अन्य आधारों से किया जा सका उनके प्रसंग में हजारों की चर्चा नहीं की गई है। कालिदास का रचनाकाल १७४६ माना गया है, क्योंकि पूर्व खंड में कालिदास के 'बधू-विनोद' ग्रंथ के उद्धरण में उसका निर्माण-काल स्पष्ट लिखा है—'संवत् सत्रह सै उनचास। कालिदास किय ग्रंथ विलास।' 'सरोज' की भूमिका में हजारों का निर्माण-काल १७५५ और 'ठाकुर' कवि के विवरण में १७४५ दिया गया है।^३ कालिदास औरंगजेब के दरबारी कवि थे और गोलकुंडा की लड़ाई में उनके साथ रहे। स्वयं 'सरोज' में उनके समय की उत्तर-सीमा १७७५ मानी गई है।

१—शिवसिंह-सरोज, पृष्ठ ३८८।

२—वही, भूमिका।

३—वही, पृष्ठ ४२६।

हजारे में 'शेख' की रचनाएँ तो हैं पर 'आलम' की हैं या नहीं, इसका पता 'सरोज' से नहीं चलता। 'आलम' के वृत्त में हजारे की चर्चा नहीं है। पर 'आलम' और साथ ही 'शेख' का उल्लेख हजारे के निर्माण-काल से पहले मिलता है।

बिहारी के भानजे कुलपति मिश्र ने संवत् १७४३ में 'युक्ति-तरंगिणी' नामक दोहों की सतसई समाप्त की। इसका आरंभ दो तीन वर्ष पूर्व अवश्य किया होगा। इसके उपक्रम में उन्होंने कतिपय संस्कृत के और कुछ हिंदी के कवियों की वंदना की है। हिंदी के जिन कवियों की वंदना की है उनके नाम क्रमशः ये हैं—पिंगल, सूरदास, आलम, गंग, प्रसिद्ध, केशवराय और बिहारी। इनमें से पिंगल से तात्पर्य अपभ्रंश के पिंगल-सूत्रों की रचना करनेवाले पिंगलाचार्य से है, जिनका समय विक्रम की चौदहवीं शती से इधर का नहीं है। हम्मीरदेव की प्रशंसा के छंद 'प्राकृतपिंगलम्' और 'प्राकृतपिंगलसूत्र' में मिलते हैं, अतः इस ग्रंथ का प्रणयन हम्मीरदेव के अनंतर हुआ, पर उसपर जो टीकाएँ हैं वे विक्रम की सोलहवीं शती के बाद की नहीं हैं, अतः उससे पूर्व की रचना वह निश्चित है।^१ बिहारी का समय १७२० के पहले का है, क्योंकि उनकी सतसई का तिलक कृष्ण कवि ने संवत् १७१६ में किया। शेष कवियों में से 'आलम' को छोड़कर और सभी अकबर या जहाँगीर के समसामयिक हैं। सूरदास का रचनाकाल संवत् १६४० माना जाता है। वल्लभाचार्य के पुत्र और शिष्य विठ्ठलनाथ के समय में ये थे ही। गंग ने अकबर और अब्दुरहीम खानखाना का दरबार किया था। उनकी प्रशंसा में इनके कवित्त मिलते हैं। 'प्रसिद्ध' कवि खानखाना के दरबारी थे। अकबर के दरबारी कवियों में भी इनका उल्लेख है—

पाइ प्रसिद्ध पुरंदर ब्रह्म सुधारस अमृत अमृत बानी।

गोकुल गोप गोपाल गनेस गुनी गुन सागर गंग सु ज्ञानी।

१—रत्नाकर-संग्रह, आर्यभाषा-पुस्तकालय, नागरीप्रचारिणी सभा, काशी।

२—'प्राकृतपिंगलम्', बंगाल की एशियाटिक सोसाइटी द्वारा प्रकाशित, सन् १६०२।

३—नागरीप्रचारिणी पत्रिका, नवीन संस्करण, भाग ८।

‘आलम’ और उनका समय

४५

जोध जगन्न जगे जगदीस जगामग जैत जगत है जानी ।

को रे अकबर सैनकथी इतने मिलि कै कविता जु बखानी ॥

‘सरोज’ में ‘प्रसिद्ध’ कवि को खानखाना का दरबारी लिखा है और रचनाकाल १५६० दिया है । यदि १५६० को ईसाई संवत् भी माना जाय तो भी इनका समय संवत् १६४७ ही होता है । ‘केशवराय’ को यदि प्रसिद्ध कवि केशवदास माना जाय तो उनका समय संवत् १६५० से १६७० ठहरता है । पर ये ‘केशवराय’ निश्चय ही उनसे भिन्न हैं । ये वस्तुतः कुलपति मिश्र के नाना और बिहारी के पिता जान पड़ते हैं । ‘द्रोणपर्व’ या ‘संग्राम-सागर’ में कुलपति मिश्र ने इनका स्मरण मातामह के नाम से किया है—

कविवर मातामह सुमिरि केसव केसवराय ।

कहाँ कथा भारत्य की भाषा छंद बनाय^१ ॥

इस प्रकार सिद्ध है कि कुलपति मिश्र ने जिन कवियों की स्तुति की है वे सब उनसे पहले के हैं । ‘आलम’ को इन्होंने सूरदास और गंग के मध्य रखा है । अतः इनका समय सूरदास और गंग या केशवराय के समय से ही मिलनेवाला होना चाहिए । ‘आलम’ की जो स्तुति की गई है वह भी ध्यान देने योग्य है—

नवरसमय मूरति सदा जिन बरने नंदलाल ।

आलम आलम बस कियो दै निज कविता जाल^२ ॥

‘नवरसमय मूर्ति’ नंदलाल का वर्णन करनेवाले सूरदास और गंग के समकालीन ‘आलम’ कौन हैं ? यदि ‘आलम-केलि’ के प्रणेता ‘आलम’ से भिन्न कोई दूसरे ‘आलम’ हैं तो उनकी रचना कौन-सी है ? यदि ‘माधवानल-कामकंदला’ के रचयिता ही ये ‘आलम’ हैं तो ‘माधवानल-कामकंदला’ में नंदलाल का वर्णन कहाँ है, उनकी अन्य रचनाएँ यदि ‘आलम-केलि’ ही नहीं हैं तो और कौन-सी हैं, जिनमें नंदलाल का वर्णन है । यदि इन ‘आलम’ को कुलपति के कुछ ही पूर्व माना जाय तो भी यह तो मानना ही

१ —रत्नाकर-संग्रह, आर्यभाषा-पुस्तकालय, नागरीप्रचारिणी सभा, काशी ।

२ —युक्ति-तरंगिणी, वही ।

पड़ेगा कि इनकी नंदलाल की प्रशस्तिवाली कृति के इतनी प्रसिद्ध होने के लिये कि कुलपति मिश्र जैसा प्रकांड पंडित चुने हुए कवियों के साथ उसकी प्रशंसा करने लगे ३०-४० वर्ष तो अवश्य लगे होंगे। 'आलम' को इससे कम समय में कैसे वश में किया जायगा। अतः बहुत पीछे रखने पर भी संवत् १७०० विक्रमी के लगभग उनका रचनाकाल फिर भी मानना पड़ेगा। यदि ऐसा माना जाय तो संवत् १७७० और संवत् १७०० एक साथ रचनाकाल कैसे हो सकते हैं। यही क्यों, इससे पहले भी इनका उल्लेख मिलता है।

संवत् १७२० में 'अनेक सत्कविराजोक्तिसार-संग्रह दोहा' का संकलन किया गया—

सत्रह सौ बीसोत्तरा, मास चैत्र गुरुवार ।

शुक्ल पक्ष दुतिया तिथी रचो सो दोहा सार ॥

इस ग्रंथ में दोहों का संग्रह है। इसमें 'आलम' और 'शेख' के भी दोहे संकलित हैं। कुछ उदाहरण पेश किए जाते हैं—

'आलम' प्रेम-वियोग में उठत अटपटी भार ।

मन लागै जियरा जरै, लाज होत बरि छार ॥

हित चित दै सबही सुनौ, साँच कहत है 'सेख' ।

संगति तैसो होय फल, यामें मीन न मेख ॥

'सेख' सुमन औ कापुरुष तीजी ठौर न जायँ ।

कै सबके सिर पै रहँ कै बन माँझ बिलायँ ॥

इस प्रकार 'आलम-केलि' के रचयिता को मुअज्जमशाह के दरबार में पहुँचानेवाला 'शिवसिंह-सरोज' का पूर्वोद्धृत सवैया ही है। 'सरोज' से ही यह परंपरा चली है। हिंदी-साहित्य के पुराने ग्रंथ तो यही कहते हैं कि नंदलाल का वर्णन करनेवाले कोई 'आलम' थे—मुअज्जमशाह के समय से पहले। 'दोहासार-संग्रह' के अनुसार चलकर यदि 'आलम' की प्रसिद्धि का समय ३०-४० वर्ष ही माना जाय तो भी १७२० के पहले १६८० में कवि का होना कोई दुर्घट घटना नहीं है। 'माधवानल-कामकंदला' के रचयिता

‘आलम’ और उनका समय

४७

का समय विक्रमी संवत् १६४० ठहरता है। यदि उसे कवि की आरंभिक रचना माना जाय तो १६८० तक रचनाकाल रहने में कोई बाधा नहीं। यदि कहा जाय कि ‘आलम’ की सी मुक्तक रचना करनेवाला ‘माधवानल-कामकंदला’ लिखने क्यों गया, यह तो सूफी कवियों की प्रवृत्ति थी, तो ‘बोधा’ इसके प्रमाण में पेश किए जा सकते हैं। ‘बोधा’ ने स्वच्छंद कवि-वृत्ति रखते हुए एक ओर तो मुक्तक रचना की और दूसरी ओर प्रबंधकाव्य निर्मित किया। ‘माधवानल-कामकंदला-चरित्र’ या ‘विरह-वारीश’ उनकी प्रथम या आरंभिक रचना है। तदनंतर उन्होंने ‘विरही-दंपति-सुभान-विलास’ लिखा, जिसमें उनकी प्रौढ़ और प्रेम-मार्ग का निरूपण करनेवाली रचनाएँ हैं। हिंदी में तो, जहाँ तक पता चलता है, ‘आलम’ ने ही ‘माधवानल-कामकंदला’ की रचना सबसे पहले प्रस्तुत की और प्रेम की स्वच्छंद वृत्ति रखनेवाले उसकी ओर उन्मुख हुए। इन्हीं की देखादेखी बोधा ने भी इस प्रकार की रचना का विस्तार किया। ‘आलम’ इस रचना के द्वारा अपने को लांछित करने-वालों का मुँह बंद करना चाहते थे। प्रेम का उदात्त स्वरूप सामने करके वे ‘शेख’ के प्रेम का प्रतिपादन करने के अभिलाषी थे। ‘सुभान’ वेश्या के प्रेमी ‘बोधा’ ने भी यही किया। ‘बोधा’ के समस्त ‘आलम’ की पोथी थी, इसका प्रमाण यह है कि उनके आश्रयदाता थे खेतसिंह और खेतसिंह के बड़े भाई ‘हिंदूपति’ के लिये ‘माधवानल-कामकंदला’ की पोथी राजाराम नामक ब्राह्मण ने प्रस्तुत की थी। इसका उल्लेख आर्यभाषा-पुस्तकालय में सुरक्षित आलमकृत ‘माधवानल-कामकंदला’ की पुष्पिका में इस प्रकार है—

‘इति श्री माधवानल कामकंदला कथा संपूरन। सुभमस्तूः जद्रिसं पुस्तकं द्रष्टा तद्रिसं लिखतं मया यदि सुधक सोधो या मम दोषो न दीयते। स्वस्ति श्री नृप विक्रमार्क समयातीत सुसंवत् १८१७ वर्ष सावन प्रथम सुदि २ सोमवासरे कौ माधवानल की कथा संपूरण। सुभ स्थान मौजे रानीपुर खानि हीरन की राज्य श्री महाराजाधिराज श्री महाराजा श्री राजा हिंदूपति जू कौ लिखतं प्रधान राजाराम पुस्तिक अपनी।’

इसके अतिरिक्त सबसे पक्का प्रमाण ‘आलम’ के एक होने का यह है कि स्वयं शिवसिंह सेंगर ने अपने ग्रंथ में उक्त सवैये के साथ ‘आलम’ का

जो एक दोहा उद्धृत किया है वह भी आलमकृत 'माधवानल-कामकंदला' में मौजूद है। 'सरोज' में उद्धृत दोहा इस प्रकार है—

आलम ऐसी प्रीति पर, सबस दीजै वारि ।

गुप्त प्रगट कैसी रहै, दीजै कपट पिटारि ॥

यही आर्यभाषा-पुस्तकालय की हस्तलिखित 'माधवानल-कामकंदला' की पोथी में यों दिया हुआ है—

आलम ऐसी प्रीति पर, तन मन दीजै धाइ ।

गुप्त प्रगट अखियाँ मिलैं, दियौ कपट पट जाइ ॥

बाबू बालकृष्णदास (राधाकृष्णदास जी के पुत्र) की हस्तलिखित बड़ी प्रति में दिया हुआ उसका रूप 'सरोज' के उद्धृत दोहे के रूप से बिलकुल मिल जाता है—

आलम ऐसी प्रीति पर, सबस दीजै वारि ।

गुप्त प्रगट अखियन मिलै, दियै कपट पट डारि ॥

इस प्रकार मेरा दृढ़ विश्वास है कि सवैया किसी दूसरे का बनाया हुआ है, 'आलम' शब्द के कारण भ्रांति उत्पन्न हो जाने से वह उनका निर्मित समझ लिया गया है। वह मुंअज्जमशाह के किसी दरबारी कवि का रचा हुआ है। उन्हीं के ऐसा लिख देने का फल यह हुआ कि 'माधवानल-कामकंदला' मिलने पर लोग दो 'आलम' मानने लगे। यदि पूरी छानबीन हुई होती तो यह भ्रांति उत्पन्न ही न होती। एक ही 'आलम' मानकर विचार करने से सारी स्थितियाँ स्पष्ट हो जाती हैं। संवत् १७५३ 'आलम-केलि' का लिपि-काल है। इनकी रचनाओं का संग्रह कदाचित् किसी ने बाद में 'आलम-केलि' के नाम से किया है। 'आलम-केलि' नाम विलक्षण है। 'आलम' ने स्वयं यह नाम रखा होगा, ऐसा जान नहीं पड़ता, क्योंकि इस संग्रह का नाम 'आलम के कवित्त' सर्वत्र मिलता है। जिन दो हस्तलिखित ग्रंथों में 'आलम-केलि' नाम दिया गया है उनमें भी 'आलम के कवित्त' लिखकर तब यह नाम रखा गया है। स्वर्गीय मयाशंकर जी याज्ञिक का कहना था कि यह नाम प्रतिलिपिकार की भ्रांति से चल पड़ा है। उनके अनुसार 'आलम के कवित्त लिख्यते' के स्थान पर किसी प्रति में 'कवित्त' शब्द छूट गया और 'लिख्यते'।

‘आलम’ और उनका समय

४६

का ‘लि’ पहली पंक्ति के अंत में आया। लिखनेवाले ने दूसरी पंक्ति लिखते समय या तो पूरा शब्द ‘लिख्यते’ लिख दिया या उसने तो ‘ख्यते’ ही लिखा पर उस प्रति से प्रतिलिपि करनेवाले ने एक ‘लि’ की छूट मान ली। इस प्रकार ‘आलम के लि लिख्यते’ बन गया। पर यह नाम जिन हस्तलिखित पोथियों के अंत में आया है उनमें पुष्पिका में दिया गया है। अतः अधिक संभावना इसी बात की है कि यह नाम बनाया गया है, भ्रम से बना नहीं है। कुछ भी हो इसकी पुष्पिका का संवत् ही बतलाता है कि रचना उसके पूर्व की है। यही क्यों, काँकरौली के ‘सरस्वती-भंडार’ में इसी ग्रंथ को एक हस्त-लिखित प्रति सुरक्षित है, जिसे वहाँ के पुस्तकाध्यक्ष ने ‘आलम’ की नई रचना उद्धोषित किया है और पुष्पिका में ग्रंथ का कोई नाम न पाकर चार सौ छंदों का ग्रंथ होने से ‘चतुःशती’ नाम रखा है। इस ग्रंथ की पुष्पिका यों दी गई है—

‘इति शेख आलम के कवित्त संपूर्ण, संवत् १७१२ वर्षे भाद्रपद मासे शुक्ल पक्षे बुधवासरातायां लिखित श्रीवर वैष्णव ब्रह्मचारी श्री मधुपुर्या नमः। पुस्तक स्वामी गोविंददास को श्री श्री श्री’।

इससे निश्चित है कि ‘आलम’ का यह संग्रह बहुत प्राचीन काल से चला आ रहा है। संवत् १७१२ (सन् १६५५) में तो मुअज्जमशाह केवल १२ वर्ष का रहा होगा। उस समय ग्रंथ बना नहीं, ‘ब्रह्मचारी’ जी ने उसकी प्रतिलिपि की। जो छंद ‘आलम’ का कहकर उद्धृत है वह उसके सिंहासन पर बैठने के अवसर का है। इससे यह निश्चय हो गया कि ‘आलम’ की रचना ‘आलम-केलि’ बहुत प्राचीन है, वह ‘माधवानल-कामकंदला’ के रचयिता के समय की है। दोनों के एक ही की कृति माने जाने में कोई बाधा नहीं है।

काँकरौली के इसी पुस्तकालय में ‘आलम’ का एक ग्रंथ और है, जिसका नाम ‘सुदामा-चरित’ है। इसके आरंभ में लिखा है—‘श्री गणेशाय-नमः अथ आलमकृत सुदामा चरित्र लिख्यते’। पुष्पिका यों है—‘येति श्री आलमकृत सुदामा चरित्र संपूर्ण श्रीरस्तु लषतं अवमनं।’^२ इससे यह सिद्ध

१—वज्रभारती, फाल्गुन, संवत् १६६८, पृष्ठ १७।

२—वही, चैत्र, संवत् १६६६, पृष्ठ १८।

हो जाता है कि यह ग्रंथ 'आलम' का ही है। 'खोज' में भी 'सुदामा-चरित्र' की हस्तलिखित प्रतियों का पता चला है। सन् १६४३-४५ की 'खोज' में 'सुदामा-चरित्र' की जो प्रति प्राप्त हुई है उसमें अंत में 'रेखता छंद' लिखा है। इससे स्पष्ट है कि यह ग्रंथ रेखता अर्थात् खड़ी बोली में है। 'खोज' की प्रति में कोई सन्-संवत् नहीं है। पर काँकरौली में उसी लेखक की लिखी उसी जिल्द में दूसरी पुस्तक भी है जिसमें लिखा है 'इति करुणाभरण नाटक संपूर्ण लच्छी रामकृत लिखित-अध्ययन चिरंजीवी लाला जी वाचनार्थ'। ये लाला जी श्री ब्रजभूषणलाल जी हैं, जिन्हें श्री गिरधर लाल जी महाराज ने संवत् १७०७ में गोद लिया था। इससे भी स्पष्ट है कि 'सुदामा-चरित्र' का लिपिकाल भी १७०७ के कुछ वर्षों के अनंतर ही होगा। संवत् १७२० में वे लोग काँकरौली गए थे। इसलिये इसके आसपास ही पोथी की प्रतिलिपि भी हुई होगी। इसके अनुसार भी 'आलम' का समय पहले ही का निर्धारित होता है। 'सुदामाचरित्र' में लावनी की तर्ज पर रचना की गई है। 'आलम-केलि' में भी 'आलम' के तीन कवित्त 'रेखता' में दिए हुए हैं। इससे भी प्रमाणित होता है कि इस भाषा में भी रचना करने का शौक 'आलम' को था। 'रेखता' आरम्भ में मुसलमानी दरबार की भाषा मानी जाती थी। काव्य-भाषा ब्रज स्वीकृत थी। उस भाषा में रचना करनेवाला स्वभावतः अरबी-फारसी के शब्दों का पुट कुछ अवश्य देता था। यही बात दोनों स्थानों पर दिखाई देती है। 'बोधा' के दोनों ग्रंथों (विरहवारीश और विरही-दंपति-सुभान-विलास या इश्कनामा) में इस भाषा के छंद मिलते हैं। इस प्रकार ज्ञात हुआ कि ऐसे कवियों की प्रवृत्ति के अनुकूल ही 'आलम' की यह रचना पड़ती है, अतः इसे उनकी कृति मानने में न कोई बाधा ही रह जाती है और न उनका रचना-काल इधर लाने की ही आवश्यकता पड़ती है। 'आलम-केलि' में 'शेख' के एक कवित्त में 'काम-कंदला को कामी' का प्रयोग उपमान रूप में हुआ है। यह भी एक संकेत है 'कामकंदला और माधवानल' की कथा से उनके परिचय का। हिंदी में यह

‘आलम’ और उनका समय

५१

उपमान विरल है। जब ‘आलम’ की रचना ‘माधवानल-कामकंदला’ सामने आती है तो इसका संबंध उससे जोड़ा जा सकता है—

मानस को कहा बसि कीजतु है बावरी सु,
बासी सुरवासहू को बसिकै बसाऊँ री

मैनका को स्वामी, कामकंदला को कामी मोरि,
मैनहू की मानिनी को मन मोहि लाऊँ री^१ ।

‘माधवानल-कामकंदला’ से यह भी प्रमाणित होता है कि ‘आलम’ नाम के जिस कवि ने इस ग्रंथ का निर्माण किया वह जन्मजात मुसलमान नहीं था। प्रेमकथा-काव्य लिखनेवालों की परंपरा का अनुशीलन करने से स्पष्ट ज्ञात होता है कि हिंदी में इस प्रकार के जितने ग्रंथ उपलब्ध हैं उनकी स्पष्ट दो शाखाएँ हैं। कुछ काव्य तो सूफियों के हैं, जिन्होंने अधिकतर कल्पित कथाओं का आधार लेकर रहस्यात्मक काव्यों की रचना की। कुछ ने फारसी कथाएँ भी ली हैं, पर ऐसी दो ही कथाएँ हैं—‘मुल्लादाऊद’ की कथा और ‘यूसुफ-जुलेखा’ की कथा। इनकी रचनाएँ मसनवी ढंग से चलती हैं, जिनमें खुदा की स्तुति, मुहम्मद साहब की वंदना, शाहेवक्त की प्रशस्ति बराबर रहती है। ये ग्रंथ मुसलमानों द्वारा ही प्रणीत हैं। इनका लक्ष्य सूफी-मत का प्रसार करना होता था। इन पर भारतीय सर्गबद्ध महाकाव्य की पद्धति का प्रभाव नहीं पड़ा। इनमें खुदा और मुहम्मद साहब की वंदना अवश्य रहती है। गणेश, सरस्वती या परब्रह्म की वंदना ये नहीं करते। दूसरी ओर ऐसे प्रेमाख्यान काव्य मिलते हैं जो शुद्ध काव्य की दृष्टि से लिखे गए हैं। इनका लक्ष्य प्रेम का व्यापक रूप सामने लाना भले ही हो, परंतु ये रहस्यात्मक ढंग से अपने काव्य का निर्माण नहीं करते। उन सूफी काव्यों में लौकिक और अलौकिक दोनों प्रकार के प्रेम का निर्वाह किया गया है, पर इनमें लौकिक प्रेम का ही वर्णन है। इन्होंने कथा कहने में सुभीते के विचार से दोहे-सोरठे और चौपाइयों का ग्रहण अवश्य किया है, पर ये परोक्ष रूप से न तो किसी सांप्रदायिक मत का ही प्रचार करते दिखाई देते हैं

१—आलम-केलि, छंद संख्या १६५ ।

और न अलौकिक सत्ता का आभास ही देना चाहते हैं। इन शुद्ध प्रेमाख्यानों के कवि हिंदू हैं, अतः इनमें खुदा और मुहम्मद साहब की वंदना कहीं नहीं मिलती। हाँ, गणेश, सरस्वती या ईश्वर की वंदना से इनका मंगलाचरण बराबर हुआ है। प्रेम-कथा कहने की यह परंपरा भारतीय है और इसकी शृंखला संस्कृत के प्रबंधबद्ध गद्यकाव्यों से मिली हुई समझनी चाहिए। इनमें शाहवेक्त की प्रशस्ति कहीं कहीं मिलती है, जो मसनवी शैली के सूफी प्रेमाख्यानों की नकल पर ही रखी गई है। 'माधवानल-कामकंदल' की दो प्रतियों में, जिन्हें संचितिकृत समझना चाहिए, परब्रह्म की वंदना से ही मंगलाचरण होता है, पर इधर 'खोज' (सन् १६२२-२५) में भरतपुर की जिस प्रति का उल्लेख है उसमें पहले गणेश की वंदना की गई है, फिर ईश्वर की वंदना है। विवरण लेनेवाले साहित्यान्वेषक ने लिखा है कि इसमें रसूल पैगंबर (मुहम्मद साहब) की भी वंदना है। यदि इस प्रति के लिये यह माना जाय कि विस्तार बाद में किया गया तो यह मानना पड़ेगा कि किसी मुसलमान ने रसूल की वंदना उसमें जोड़ दी है, पर उसने गणेश की वंदना किसलिये बढ़ाई। इससे जान यही पड़ता है कि यह किसी ऐसे व्यक्ति की रचना है जिसके संस्कार भारतीय थे पर जो किसी कारणवश मुसलमान हो गया था। अतः 'आलम' के संबंध में प्रचलित किंवदंती का समन्वय इस अनुमान से हो सकता है। यदि यह मानें कि दूसरे प्रकार की प्रतियाँ ही मूल प्रतियाँ हैं तो भी परब्रह्म की वंदना से यह निश्चित है कि यह किसी जन्मजात मुसलमान की रचना नहीं है, किसी ऐसे की रचना है जिसके संस्कार हिंदू के थे। वह बाद में 'आलम' हो गया। 'आलम' होने के अनंतर उसने कदाचित् 'रसखान' का ढर्रा पकड़ा। जैसे 'रसखान' मुसलमान होते हुए कृष्ण-भक्त हो गए थे वैसे ही 'आलम' और 'शेख' दोनों ही पीछे कृष्ण के भक्त हो गए, पर उदार भावना के कृष्ण-भक्त, जो केवल कृष्ण की ही लीलाओं का वर्णन नहीं करते, प्रत्युत जिस देवी-देवता में उनका मन रमता है उसी की वंदना करने लगते हैं। 'रसखान' ने कृष्ण की भक्ति के प्रेमोन्माद का वर्णन करते हुए भी शिव, गंगा आदि के गीत गाए हैं, रहीम में भी यही प्रवृत्ति दिखाई देती है।

‘आलम’ और उनका समय

५३

भारत की भक्ति-धारा का यह कैसा पुण्य प्रवाह था जिसने हिंदू और मुसलमान को एक कर दिया था, काव्य की रसमयी सरिता का अवगाहन करते हुए, भारत-भूमि में आर्विभूत होकर ये कवि भारती कंठ हो गए थे। काव्य किस प्रकार हृदय के योग, जन्मभूमि की रमणीयता, अतीत जीवन के अनुराग का मिश्रण संघटित करता है, इसके ये कवि प्रत्यक्ष प्रमाण हैं। ‘आलम’ ‘मियाँ आलम’ न हो सके, भक्ति-सिंधु का अवगाहन करने में लगे। ‘शेख’ ने भी उन्हीं का अनुगमन किया। उदार भक्ति-भावना और स्वच्छंद प्रेमोन्माद के कारण उन्होंने राम, शिव, गंगा और कृष्ण के गीत गाए। इनके द्वारा अधिक लीलाएँ कृष्ण की ही वर्णित हैं।

प्रश्न हो सकता है कि ‘सरोज’ में उद्धृत छंद यदि ‘आलम’ का नहीं तो है किसका ? इसका सीधा उत्तर यह है कि यह मुअज्जमशाह के दरबारी कवि लाला जैतसिंह महापात्र का है। स्वयं उन्हीं के हाथ का लिखा बहुत बड़ा हस्तलेख काशी की नागरीप्रचारिणी सभा के आर्यभाषा-पुस्तकालय में सुरक्षित है। उसमें उन्होंने कुछ ग्रंथ तो अपने पुरखों के अपने ही हाथ से लिख रखे हैं और कुछ रचना अपनी। उन्होंने मुअज्जमशाह के नाम पर ‘माजम-प्रभाव’ नामक अलंकारग्रंथ भी निर्मित किया है और उसकी तथा उसके कुछ अन्य सहायकों की प्रशस्ति के स्वरचित सैकड़ों कवित्त भी इसीमें स्वहस्त से लिख रखे हैं। इन्हीं फुटकल कवित्तों में से सबसे प्रथम छंद जो उन्हीं की हस्तलिपि में लिखा है ज्यों का त्यों उद्धृत किया जाता है—

जानत ओलि किताबनि कों जे निसाफ के माने कहे हे ते चीन्हे।

पालत हो इत आलम को उत नीके रहीम के नाम कों लीन्हे।

माजमसाहि तुम्हे करता करिवे कों दिल्लीपति हे बर दीन्हे।

काबिल हैं ते रहे कितहूँ कहा काबिल होत हैं काबिल कीन्हे ॥

इसके साथ दिए हुए कवित्तों में मुअज्जमशाह की मराठों पर चढ़ाई, उसके विवाह आदि की अनेक बार चर्चा हुई है, जिसका ऐतिहासिक दृष्टि से अत्यधिक महत्त्व है। इन्होंने अपने वर्षफल आदि का विचार भी पत्रों पर कर रखा है, जिससे स्पष्ट हो जाता है कि इनका जन्म संवत् १७०३ के श्रावण मास में हुआ था। संवत् १७२७ में इन्होंने ‘माजम-प्रभाव’ रचा और

संवत् १७६२ में 'प्रबोध-चंद्रोदय' का अनुवाद किया। उक्त सवैया भी १७६२ के आसपास कभी बना होगा। इस प्रकार 'आलम' के संबंध में 'सरोज' के उल्लेख द्वारा जो भ्रांति फैली थी उसका पूरा-पूरा निराकरण हो जाता है। अतः 'आलम' को एक मानने में अब कोई बाधा नहीं है और उनका रचना-काल भी संवत् १६४० से संवत् १६८० तक निश्चित है। *

* १९४४ ईसवी में काशी हिंदू विश्वविद्यालय में हुए 'प्राच्य-विद्या-संमेलन' (ओरियंटल कान्फरेंस) के हिंदी-विभाग में पठित।

मलिक मंभन और उनकी मधुमालत

श्री गोपालचंद्र सिंह

मधुमालती की कथा बहुत पुरानी है। प्रेम के क्षेत्र में जिन प्रेमियों और प्रेमिकाओं ने प्राचीन काल में अपनी जान जोखिम में डाली उनका उल्लेख करते हुए मलिक मुहम्मद जायसी ने 'पदमावत' में मधुमालती तथा मनोहर के भी नाम लिए हैं—

बहुतन्ह ऐस जीव पर खेला ।
तू जोगी को आहि अकेला ॥
बिक्रम धँसा पेम के बारों ।
चंपावत कँह गयौ पतारों ॥
सुदी पच्छ मुग्धावति लागी ।
गँगनपूर होइगा बैरागी ॥
राजकुँवर कंचनपुर गयऊ ।
मिरगावति कँह जोगी भयऊ ॥
साधा कुँवर मनोहर जोगू ।
मधुमालति कँह दीन बियोगू ॥

जायसी द्वारा इस कथा के उल्लेख से ज्ञात होता है कि यह कथा जायसी के समय में काफी प्रचलित थी; पर यह कह सकना कठिन है कि उस समय तक किसी भाषा में यह कविताबद्ध भी हो चुकी थी या नहीं।

उर्दू और फारसी के कवियों के अतिरिक्त जिन कवियों ने इस कथा

१—'पदमावत' की अनेक हस्तलिखित प्रतियों में 'साधा कुँवर मनोहर जोगू' के स्थान पर पाठ है 'साध कुँवर खंडावत जोगू', जो बिलकुल अर्थहीन है। यहाँ मैंने जो पाठ दिया है वह मेरे पास की एक हस्तलिखित प्रति का है और यही पाठ शायद काशी हिंदू विश्वविद्यालय की एक प्रति में भी है।

को हिंदी में कविताबद्ध किया है उनमें से हमें अब तक केवल दो ही का पता लग पाया है—मंभन का और चतुर्भुजदास कायस्थ का ।

सन् १६१२ के पूर्व मंभन और उनकी 'मधुमालत' से हिंदी-संसार सर्वथा अपरिचित था । उसी वर्ष 'मधुमालत' की एक अपूर्ण प्रति स्वर्गीय श्री जगन्मोहन वर्मा के सहयोग से राय कृष्णदास जी को काशी के गुदड़ी-बाजार में मिली । यह प्रति फारसी-लिपि में है और इसके आदि तथा अंत के कई पृष्ठ अनुपलब्ध हैं । इस समय यह प्रति 'भारत कलाभवन' में सुरक्षित है । तत्पश्चात् उसी ग्रंथ की एक दूसरी हस्तलिखित प्रति, जो कैथी मिली देवनागरी लिपि में है, 'भारत कलाभवन' को सन् १६३० में मिली और इस समय वहीं विद्यमान है । यह प्रति भी अधूरी ही है । किंतु यह आरंभ में अधूरी है । इसका अंतिम अंश पूरा है, जिसमें यह पुष्पिका है—'इती स्त्री मधुमालती कथा सेष मंभन क्रीती समापित संवत् १६४४ समये अगहन सुदि पुरनमासी ॥ ब्रीहसपती वसरे ॥ लीषीतं माधोदासु कोहली कासी मधे पोथी माधोदास कोहली की ॥' इस समय तक हिंदी-संसार के सामने इस पुस्तक की ये ही दो हस्तलिखित प्रतियाँ हैं । इसके कर्ता की जाति तथा इसके निर्माणकाल के विषय में विद्वानों में अब तक काफी मतभेद रहा है । बिना पर्याप्त आधार के प्रत्येक पक्षवाले अपने अपने पक्ष के समर्थन में व्यर्थ ही उद्विग्न रहे हैं ।

सर्वप्रथम स्वर्गीय श्री जगन्मोहन वर्मा ने 'मधुमालत' की भाषा तथा शैली आदि के आधार पर यह सिद्ध करते हुए कि मंभन मुसलमान थे, यह निष्कर्ष भी निकाला कि मंभन की 'मधुमालत' जायसी की 'पदमावत' से पुरानी है ।

तत्पश्चात् स्वर्गीय श्री जगन्मोहन जी के आत्मज श्री सत्यजीवन जी ने अपने 'आख्यानक काव्य' नामक निबंध में 'मधुमालत' से ही यह दिखलाते

१—मंभन के इस काव्य का नाम मधुमालती या मधुमालति नहीं बल्कि 'पदमावत' के समान 'मधुमालत' ही जान पड़ता है ।

२—देखिए उसमानकृत चित्रावली की भूमिका, पृष्ठ ४-५ ।

मलिक मंभन और उनकी मधुमालत

५७

हुए कि मंभन अपने को 'मलिक' लिखते थे और मलिक मुहम्मद जायसी की ही भाँति सूफीमतानुयायी मुसलमान थे 'मधुमालत' को संवत् १५६६ और १५६५ के बीच की रचना बताया। वे लिखते हैं —

“मृगावती का रचनाकाल संवत् १५६६ है। मधुमालती क्रमानुसार मृगावती के बाद आती है। अतः मधुमालती संवत् १५६६ के पश्चात् रची गई होगी। अब यही मानना पड़ेगा कि मधुमालती का निर्माणकाल संवत् १५६६ से १५६५ (पद्मावत का रचनाकाल) के बीच में है।”

जहाँ तक मलिक मंभन के हिंदू या मुसलमान होने का प्रश्न है, सर्वश्री जगन्मोहन जी तथा सत्यजीवन जी के तत्संबंधी तर्क बिलकुल अकाष्ठ्य हैं; फिर भी श्री ब्रजरत्नदास ने यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि 'मधुमालत' के रचयिता मंभन मुसलमान नहीं बल्कि हिंदू थे। वे कहते हैं —

“ 'मंभन' हिंदू थे अतः उन्होंने मुसलमानी प्रथानुसार अपने काव्य के आरंभ में अपने समय के सम्राट् का उल्लेख नहीं किया है और न ग्रंथनिर्माण का समय दिया है। 'मधुमालती' के मंगलाचरण से यह निर्गुण निराकार के मानने वाले ज्ञात होते हैं।”

ध्यान देने की बात यह है कि 'भारत कलाभवन' की जिन हस्तलिखित प्रतियों के आधार पर श्री ब्रजरत्नदासजी निःसंकोच यह कहते हैं कि मंभन ने काव्य के आरंभ में अपने समय के सम्राट् का उल्लेख नहीं किया है और न ग्रंथनिर्माण का समय दिया है उनके आदि वाले पन्ने बिलकुल ही गायब हैं। यह समझ सकना कठिन है कि ऐसी प्रति के आधार पर इस प्रकार की बात श्री ब्रजरत्नदास जी के ध्यान में आई ही कैसे। मैं आगे दिखाऊँगा कि मंभन ने ग्रंथ में अपने समय के सम्राट् और ग्रंथ निर्माण के समय का ही उल्लेख नहीं किया है बल्कि उसमें उन्होंने ईश्वर, मोहम्मद साहेब, चारों मीत तथा कई मुसलमान पीरों और महात्माओं की वंदना भी की है।

१—आख्यानक काव्य, नागरीप्रचारिणी पत्रिका, संवत् १९८२, पृष्ठ ३१६।

२—हिंदुस्तानी (हिंदी संस्करण), अप्रैल १९३८ ईसवी, पृष्ठ २१२।

रही निर्गुण निराकार की वंदना सो उसमें तो कोई ऐसी बात नहीं है जो सूफीमत के प्रतिकूल पड़े।

यह तो हुई मंझन के हिंदू या मुसलमान होने की बात। दूसरा प्रश्न है ग्रंथ के निर्माणकाल का। इसके संबंध में स्वर्गीय श्री जगन्मोहन जी या श्री सत्यजीवन जी की दलीलें मेरी समझ में नहीं आईं। इस विषय में दोनों ही सज्जनों का मत है कि 'मधुमालत' कुतुबन की 'मृगावती' के पश्चात् और जायसी की 'पदमावत' के पूर्व निर्मित हुई और इसके समर्थन में उनकी मुख्य दलील यह है कि चूँकि जायसी ने 'पदमावत' में उसकी कथा का उल्लेख किया है इसलिये वह अवश्य ही जायसी के पूर्व लिखी गई होगी और चूँकि जिस क्रम से जायसी ने 'मृगावती' आदि के आख्यानकों का उल्लेख किया है उस क्रम के अनुसार 'मधुमालत' 'मृगावती' के बाद आती है इसलिये 'मधुमालत' की रचना 'मृगावती' के बाद ठहरती है। निराधार यह मान बैठना ठीक नहीं कि (१) जायसी ने जितने आख्यानकों का उल्लेख किया है वे सब 'पदमावत' के लिखे जाने के पूर्व हिंदी में कविताबद्ध हो चुके थे, (२) 'विक्रम धंसा' आदि पंक्तियों में जायसी को विविध आख्यानों का नहीं बल्कि तत्तत्संबंधी काव्य-ग्रंथों का विशेषकर हिंदी में लिखे हुए मसनवी ढंगवाले कथा-काव्यों का उल्लेख करना अभीष्ट था, (३) मधुमालती की कथा से संबंध रखनेवाले काव्य-ग्रंथ का उल्लेख मंझन की 'मधुमालत' को ही दृष्टि में रखकर किया गया है और यह असंभव है कि जायसी के सामने उस कथा से संबंध रखनेवाला कोई और भी ग्रंथ रहा हो जो अब खो गया हो या अभी तक मिला न हो और (४) विविध आख्यानक-काव्यों का उल्लेख करने से पूर्व जायसी ने इस बात का पूरी तौर से अनुसंधान कर लिया था कि उनमें से कौन सा कव निर्मित हुआ तथा फिर उसी क्रम से 'पदमावत' में उनका उल्लेख भी किया।

दूसरा तर्क जो स्वर्गीय श्री जगन्मोहन जी ने अपने मत के समर्थन में पेश किया है वह उन्हीं के शब्दों में इस प्रकार है—

“जिस प्रकार मधुमालति में पाँच पाँच चौपाई के बाद एक एक दोहे हैं इसी प्रकार कुतुबन की मिरगावति में भी पाँच पाँच चौपाई के बाद एक एक दोहे हैं। इससे अनुमान होता है कि जायसी के पूर्व ग्रंथों में

मलिक मंझन और उनकी मधुमालत

५६

पाँच पाँच चौपाई के बाद एक एक दोहे लिखने की प्रथा थी। सात सात चौपाई के बाद एक एक दोहे लिखने की प्रथा जायसी ने चलाई जिसका उनके पीछे के कवियों ने अनुसरण किया। अतः मधुमालति, कुतुबन की मिरगावति के नियम पर उसमें पाँच पाँच चौपाई के बाद एक एक दोहे होने से, पद्मावति से पुरानी है।”

यह तर्क भी ठीक-ठिकाने का नहीं। किसी दोहा-चौपाई वाले ग्रंथ में अर्धालियों की किसी नियत संख्या के पश्चात् दोहे को रखने की बात कवि की अपनी रुचि पर आश्रित है, इसमें प्रथा या परिपाटी की कोई बात नहीं। अतः यह देखकर कि जायसी ने सात सात अर्धालियों के पश्चात् एक एक दोहा रखा है और कुतुबन की भाँति मंझन ने पाँच पाँच अर्धालियों के पश्चात्, इस परिणाम पर पहुँच जाना कि कुतुबन की भाँति मंझन भी जायसी के पूर्ववर्ती थे, उचित नहीं। ‘इंद्रावती’ के रचयिता नूरमोहम्मद और ‘माधवानल-कामकंदला’ के लेखक आलम दोनों ही जायसी के बहुत बाद हुए हैं, पर दोनों ने ही दो दोहों के बीच पाँच पाँच अर्धालियाँ रखी हैं। ‘इंद्रावती’ तो ‘मधुमालत’ की प्रथम हस्तलिखित प्रति के मिलने के लगभग छः वर्ष पूर्व ही नागरीप्रचारिणी सभा, काशी से प्रकाशित हो चुकी थी। यदि पूज्य वर्मा जी ने उसे देख लिया होता तो ऐसी गलती कदापि न होती।

तीसरी बात जो श्री जगन्मोहन जी ने अपने पक्ष के समर्थन में कही है वह यह है कि ‘मधुमालत’ भाषा के विचार से भी ‘पदमावत’ से पुरानी है। श्री वर्मा जी तथा उनके अनुयायी ‘मधुमालत’ को ‘मिरगावत’ और ‘पदमावत’ के बीच की रचना मानते हैं। ‘मिरगावत’ का रचनाकाल ६०६ हिजरी है और ‘पदमावत’ का ६२७ हिजरी। १५, १६ वर्षों में ही कौन सा ऐसा भाषा परिवर्तन हो सकता है जिसके आधार पर कोई यह कह सके कि अमुक रचना पहले की है और अमुक पीछे की।

सर्वश्री जगन्मोहन जी और सत्यजीवन जी ने ‘मधुमालत’ के रचना-काल के विषय में जो राय कायम की थी यद्यपि वह थी बिलकुल ही निराधार फिर भी हिंदी-साहित्य के लगभग सभी लेखकों ने उसे आँख मूँदकर

मान लिया। केवल श्री ब्रजरत्नदास जी ने मंभन को जायसी का परवर्ती बतलाने का साहस किया; पर उन्होंने उन्हें मंभन नामक किसी हिंदू कवि के रूप में देखा और 'मधुमालत' के रचनाकाल को वे संवत् १६५० विक्रमी तक खींच ले गए। सबसे बड़ा आश्चर्य तो यह है कि संवत् १६४४ की 'कला-भवन' वाली प्रति का उन्हें पता था।

नागरीप्रचारिणी पत्रिका में प्रकाशित अपने लेख 'मंभनकृत मधुमालती' में श्री चंद्रबली पांडे ने यह तो भली भाँति सिद्ध कर दिया कि मधुमालतकार मंभन श्री ब्रजरत्नदास जी के मंभन से भिन्न थे और उनका कविताकाल संवत् १६५० विक्रमी से बहुत पहिले ही रहा होगा, पर इस बात का वे भी कोई युक्तिसंगत प्रमाण न दे पाए कि 'मधुमालत' 'पदमावत' से पहले की है। पांडे जी ने केवल 'मधुमालत' और 'पदमावत' की कुछ ऐसी उक्तियों की, जिनमें थोड़ा बहुत भाव-सादृश्य नजर आता था, तुलना करके यह दिखाने का प्रयत्न किया है कि मंभन के भावों की अपेक्षा जायसी के भाव अधिक परिष्कृत और परिमार्जित हैं; पर यदि यह सही हो तो भी केवल इसीलिये यह समझ बैठना कि जायसी किसी हद तक मंभन के भावों से प्रभावित हुए थे और 'पदमावत' 'मधुमालत' के बाद की रचना है, भारी भ्रम है।

अभी हाल में ही 'मधुमालत' की एक और हस्तलिखित प्रति मेरे देखने में आई है। यह प्रति रामपुर रियासत की संपत्ति है और वहीं के राजकीय पुस्तकालय में सुरक्षित है। यह प्रति अत्यंत सुंदर ढंग से लिखी हुई है और इसका प्रत्येक पृष्ठ प्रचुरतया सुवर्णालंकृत है। पूरी पुस्तक २४६ पृष्ठों की है और प्रत्येक पृष्ठ में १५ पंक्तियाँ हैं; केवल पहला पन्ना गायब जान पड़ता है। सारी पुस्तक फारसी लिपि में है।

इस हस्तलिखित प्रति की पुष्पिका इस प्रकार है —

'नुस्खा मधुमालत तस्नीफ मलिक मंभन बतारीख शशम सह सफर
बवक्त शाम रोज सेहशांवा दर मुन्फरुल-खिलाफत अकबराबाद दर हबेली

मलिक मंझन और उनकी मधुमालत

६१

अलीशेर मर्हूम हमराह नवाब हुसेन अली खाँ दर अहद बादशाह मोहम्मद-शाह गाजी बख्त फकीर आसी खादिमुल्फुकरा '... नविशतै मियाँ अब्दुर्रहमान सल्लिमहू मुत्बत्तिन कस्बा बदो सराय^१ तमाम शुद' ।

इस पुष्पिका से 'मधुमालत' की इस हस्तलिखित प्रति का लिपिकाल सम्राट् मोहम्मदशाह के शासनकाल में होना विदित होता है ।

मुख पृष्ठ पर, जहाँ पुस्तक का नाम रहता है, लिखा है—'मधुमालत (कलमी) मुसन्नफ मलिक मंझन' और उसी के निकट एक नोट है जिससे विदित होता है कि यह प्रति ७ जुलाई सन् १८६१ को मन्खनलाल नामक किसी पुस्तक-विक्रेता के हाथ बिकी ।

पुस्तकालय के रजिस्टर में इस पुस्तक के पुस्तकालय में प्रविष्ट होने की तिथि दी है—१६ अक्तूबर सन् १९०३ ।

यह सब हुआ इस हस्तलिखित प्रति के विषय में । अब रही पुस्तक की बात । पुस्तक में 'पदमावत' आदि की भाँति पहले ईश्वर की वंदना और फिर मोहम्मद साहब तथा उनके चारों मीत—अबूवकर, उमर, उसमान और अली की स्तुति है । तत्पश्चात् तत्कालीन सम्राट् शाह सलीम, और शेख बदी, शेख मोहम्मद और गुलाम गौस की, जो शायद मुसलमान पीर या महात्मा थे, प्रशंसा है तथा इन सबके अंत में निर्गुण की महिमा का गान है ।

इससे स्पष्ट हो गया कि पुस्तक शेरशाह सूरी के पुत्र और उत्तराधिकारी शाह सलीम के शासनकाल में निर्मित हुई थी । सलीम शाह शेरशाह की मृत्यु के पश्चात् ६५२ हिजरी या संवत् १६०२ विक्रमी (= १५४५ ईसवी) में राजसिंहासन पर बैठा और जैसा कि 'मधुमालत' के आदि भाग में आई हुई निम्नलिखित पंक्तियों से ज्ञात होता है यह पुस्तक भी उसी वर्ष निर्मित हुई—

‘सन् नौ सै बावन जब भए ।

सने बरख कुल परिहर गए ॥

तब हम जी उपजी अभिलाषा ।

कथा एक बाँधौ अस भाषा ॥

१—यह कस्बा बाराणकी बिले में है ।

नागरीप्रचारिणी पत्रिका

सुर मुनि बचन जहाँ लह सुने ।

औ जो कुछ हिरदय मँह गुने ॥

सो सब कहौ सरस रस पागे ।

सुनहु कान दै पेम अभागे ॥

मैं छाँड़्यो गुन कै परसादू ।

तुम छाँड़ौ मोह बाद सवादू ॥

अंतरित कथा सुरस रस, सुनहु कहौ सब गाय ।

हिरदयरत आखर जो देखौ, कवि मँह लेहु छिपाय ॥'

हर्ष की बात है कि इस हस्तलिखित प्रति का पता लग जाने से अभी तक मंभन की जाति और कविता-काल के विषय में जो कुछ भी निराधार वाद-विवाद और मतभेद था उस सबका पूर्णतया अंत हो जाता है ।^१

१—मुझे इस पुस्तक के देखने का सौभाग्य रामपुर राज्य के राजकीय पुस्तकालय के पुस्तकाध्यक्ष श्री इग्न्याज अली 'अशौं' तथा वहाँ के चीफ मिनिस्टर साहब की कृपा और सौजन्य के बिना असंभव था । अतः मैं इन दोनों सज्जनों का अत्यंत कृतज्ञ हूँ ।

विक्रम की छठी से पंद्रहवीं शती तक की धर्म-साधना

श्री हजारीप्रसाद द्विवेदी

विक्रम की छठी से लेकर पंद्रहवीं शती तक का धार्मिक इतिहास प्रस्तुत करने के लिये जो सामग्री उपलब्ध है वह बहुत विशाल होने पर भी पर्याप्त नहीं है। इस कार्य को संपन्न करने में अधिकांश में सांप्रदायिक ग्रंथों पर आश्रित रहना पड़ता है; परंतु सभी धार्मिक साधक और संप्रदाय सब समय अपने सैद्धांतिक ग्रंथ नहीं छोड़ जाते और न ग्रंथों की संख्या-बहुलता से किसी संप्रदाय-विशेष का अत्यधिक प्रबल होना ही सब समय सिद्ध होता है। ऐसे बहुत से संप्रदाय होंगे जिन्होंने कोई ग्रंथ लिखा ही न हो या जिनके ग्रंथ प्रचारित न होने के कारण लुप्त हो गए हों। कभी कभी विरोधी मतों की पुस्तकों में ऐसे लुप्त संप्रदायों का उल्लेख मिल जाता है, पर उनके आधार पर कोई धारणा बना लेना सभी परिस्थितियों में उचित नहीं होता। वैदिक मत के आचार्यों द्वारा बौद्ध मत के खंडनार्थ उत्थापित बौद्ध सिद्धांत देखकर विशाल बौद्ध धर्म और दर्शन का कुछ भी ज्ञान नहीं हो सकता। जनश्रुतियों से कभी कभी ऐसे धार्मिक संप्रदायों का पता चलता है जिनका न तो कोई ग्रंथ ही उपलब्ध है और न किसी आचार्य ने खंडन के उद्देश्य से ही उनका नाम लिया है। 'पुरातन-प्रबंध-संग्रह' नामक जैन-प्रबंध में नीलपट नामक 'दर्शनियों' की एक कहानी दी हुई है। इनकी साधना-पद्धति कुछ अजीब सी है। स्त्री और पुरुष के नग्न जोड़े नीलपट में आवृत रहते थे। कहानी में बताया गया है कि राजा भोज की किसी कन्या ने ऐसे ही एक युग्म से धर्मतत्त्व संबंधी प्रश्न किया, इस पर उस 'दर्शनी' ने भोगपरक धर्म का उपदेश दिया^१। राजा भोज ने जब यह सुना तो उनका उच्छेद कर दिया।

१—पिब खाद च वामलोचने यदतीतं वरगात्रि तन्न ते।

नहि भीरु गतं निवर्तते समुदय मात्रमिदं कलेवरम्॥

—पुरातन-प्रबंध-संग्रह, पृष्ठ १६

इन नीलपटों का कोई भी और विवरण हमें देखने को नहीं मिला, परंतु विरोधी मत के पंडितों द्वारा जिस प्रकार अन्य संप्रदायों को गलत रूप में उपस्थित करने की प्रवृत्ति दिखाई देती है उससे संदेह होता है कि कदाचित् यह संप्रदाय भी उतना निकृष्ट नहीं रहा होगा जितना बताया गया है। जो हो, समसामयिक साधना-पद्धतियाँ एक दूसरे को प्रभावित और रूपांतरित करती रहती हैं, इसलिये धार्मिक साधना के इतिहास में छोटी बड़ी सभी प्रवृत्तियों का महत्त्व होता है। कभी कभी शुरू में अत्यंत मामूली दिखाई पड़नेवाली भावधारा प्रबल लोकधर्म का रूप ग्रहण करती हुई देखी गई है। अपने आलोच्य काल में हम सांप्रदायिक पुस्तकों पर ही अधिक अवलंबित होने के लिए बाध्य हैं, परंतु इससे यह नहीं समझना चाहिए कि हमें धार्मिक विकास की मीमांसा के लिए पूर्ण सामग्री उपलब्ध है। जिन पुस्तकों में सामग्री है वे सभी संस्कृत भाषा में हैं, जो आलोच्य काल की लोकभाषा नहीं थी। दक्षिण भारत की लोकभाषा में लिखे हुए भक्तिमूलक ग्रंथ आगे चलकर जबर्दस्त दार्शनिक और धार्मिक संप्रदायों की प्रतिष्ठा के कारण हुए हैं और इस तथ्य से यह अनुमान करना असंगत नहीं है कि अन्यान्य धर्म-संप्रदायों और साधना-मार्गों के विकास में भी लोकभाषा का हाथ रहा होगा। इस दृष्टि से जितनी पुस्तकें हमें मिलनी चाहिए उतनी मिली नहीं हैं। फिर, जो हैं उन सबका उद्धार भी कहाँ हुआ है? पंचरात्र-साहित्य बहुत प्राचीन और विशाल है। यद्यपि इसके ग्रंथों की आनुश्रुतिक संख्या १०८ बताई जाती है तथापि २०० से भी अधिक संहिताओं का पता चला है। पर अभी तक कुल तेरह संहिताएँ ही छपी हैं, उनमें से भी नागरी अक्षरों में छः ही उपलब्ध हैं, बाकी तेलुगु या ग्रंथ-लिपि में प्रकाशित हुई हैं^१। शैव आगम-उपागमों की

१—जयाख्य-संहिता (गायकवाड़ सीरीज ५४) के संपादक ने निम्नलिखित मुद्रित संहिताओं के नाम दिये हैं—अहिर्बुध्न्य संहिता (नागरी) ईश्वर संहिता (तेलुगु) कपिजल संहिता (ते०) जयाख्य संहिता (ना०) पाराशर संहिता (ते०) पद्मतंत्र संहिता (ते०) बृहद्ब्रह्म संहिता (ते०, ना०) भरद्वाज संहिता (ते०) लक्ष्मी तंत्र संहिता (ते०) विष्णु तिलक (ते०) प्रश्न संहिता (ग्रंथलिपि) और सात्वत संहिता (ना०) ।

विक्रम की छठी से पंद्रहवीं शती तक की धर्म-साधना

६५

संख्या १६८ बताई जाती है, पर उनमें से बहुत कम मुद्रित हैं। यही बात धारणियों, स्तोत्रों तथा अन्य विषयों के लिये भी सत्य है।

फिर भी जो सामग्री उपलब्ध है वह विपुल है, पर इतनी छितराई हुई है कि सबके आधार पर कार्य करना कठिन है। इस विषय की मीमांसा अभी बहुत कम हुई है। बड़ौदा, मैसूर, काशी, कलकत्ता, अड्यार आदि स्थानों से इधर बहुत से अमूल्य ग्रंथ प्रकाशित हुए हैं। चीनी और तिब्बती भाषाओं में अनेक ऐसे ग्रंथों के अनुवादों का संधान मिला है जो मूल रूप में खो गए हैं। सुदूर सुमात्रा, जावा, बाली, थाई देश आदि देशों के मंदिरों में उत्कीर्ण लेखों से इनके विषय में अनेकानेक तथ्य उद्धाटित हुए हैं, पर अभी तक इन सबको मिलाकर मनन करने का प्रयास नहीं हुआ है। श्री भांडारकर की प्रसिद्ध पुस्तक 'वैष्णविज्म, शैविज्म एंड माइनर सेक्ट्स आव दि हिंदूज' इस विषय की पुरानी पुस्तक हो गई है—यद्यपि अभी बहुत ज्ञातव्य बातों के जानने का आकर वही है। नेपाल में श्री हरप्रसाद शास्त्री के देखे हुए ग्रंथ तथा बौद्ध गान और दोहे, श्रेडर की वैष्णव संहिताओं की महत्त्वपूर्ण मीमांसा, आर्थर एवलेन की तंत्रशास्त्रीय पुस्तकें, श्री गोपीनाथ कविराज द्वारा लिखित और संपादित शाक्त और नाथमत के लेख और ग्रंथ तथा अन्य अनेक पंडितों के प्रयत्न अभी छितराई हुई अवस्था में हैं। इस क्षेत्र में उल्लेख्य प्रयत्न फर्कुहर का 'ऐन आउट लाइन आव दि रिलिजस लिटरेचर आव इंडिया' ही है, परंतु यह पुस्तक अधिकांश में साहित्यिक पैमाइश है। इधर हिंदी में श्री बलदेव उपाध्याय एम० ए०, साहित्याचार्य ने 'भारतीय दर्शन' नामक महत्त्वपूर्ण पुस्तक लिखी है, जिसमें अब तक उपेक्षित वैष्णव, शैव और शाक्त आगमों के तत्त्वज्ञान का बड़ा विशद विवेचन है। सब मिलाकर भारत के धर्म-संप्रदायों के अध्ययन का प्रयत्न अभी बाल्यावस्था में ही है।

इस काल को दो मुख्य भागों में बाँट लिया जा सकता है—विक्रम की छठी से दशवीं शती तक पूर्वार्ध और दसवीं से पंद्रहवीं शती तक उत्तरार्ध। यह विभाजन केवल अध्ययन की सुविधा की दृष्टि से ही नहीं किया जा रहा है, चस्तुतः इन दोनों कालों में कुछ मुख्य मुख्य लक्षण ऐसे मिलते हैं जो इन्हें अलग कर देते हैं। पूर्वार्ध को हम तंत्र-प्रभाव और प्रचार का काल कह

सकते हैं और उत्तरार्ध को भक्ति-प्रभाव और संगति बैठाने तथा आत्म-संकोचन का काल। पूर्वार्ध में (षष्ठ—दशम शतक) यज्ञ-याग के स्थान पर देव-मंदिरों की प्रधानता लक्षित होती है, पूर्ववर्ती काल के आर्षग्रंथों को आकर रूप में स्वीकार करने की प्रवृत्ति बढ़ती पर दिखाई देती है, वेद-प्रामाण्य का स्थान अत्यधिक महत्त्वपूर्ण हो जाता है और विरोधी संप्रदायों को अवैदिक कह कर उड़ा देने की चेष्टा चरम सीमा तक पहुँच जाती है। दर्शन के क्षेत्र में भाष्यों और टीकाओं के सहारे और धर्म के क्षेत्र में पुराण, उपपुराण और स्तोत्रों के सहारे आकर-ग्रंथों के सिद्धांत के प्रचार की प्रवृत्ति अपनी पराकाष्ठा पर पहुँच जाती है; वैष्णव, शैव, शाक्त, गाणपत्य और सौर से लेकर बौद्ध और जैन संप्रदायों तक में मंत्र, यंत्र, मुद्रा आदि का प्रचार बढ़ता दिखाई देता है। प्रायः सभी संप्रदायों में उपास्य देवों की शक्तियों की कल्पना की गई है और यह प्रवृत्ति उत्तरोत्तर बढ़ती पर दिखाई देती है। यह काल भारतीय मनीषा की जागरूकता, कर्मण्यता और प्रतिभागत उत्कर्ष का है। विशेष रूप से लक्ष्य करने की बात यह है कि इस काल में भारतीय धर्म-प्रचारकों का दूर दूर देशों से घनिष्ठ संबंध बढ़ता ही गया है। बौद्ध धर्म के प्रचारकों का चीन से जो संबंध इस काल के पूर्व ही स्थापित हो चुका था वह और भी दृढ़ होता गया और इस काल में चीन के दो अत्यंत उत्साहपरायण विद्या-व्यसनी महापुरुष—हुएन्त्सांग और इत्सिंग—यात्री रूप में इस देश में आए। ये लोग—विशेषतः हुएन्त्सांग—इस देश से बहुत बड़ी ग्रंथ-राशि अपने साथ चीन ले गए, जिनमें से अधिकांश का चीनी भाषा में अनुवाद सुरक्षित है, यद्यपि वे मूल रूप में खो गए हैं। हुएन्त्सांग के जीवन-वृत्त से पता लगता है कि वे अपने साथ महायान सूत्र के २२४ ग्रंथ, अभिधर्म के १६२ ग्रंथ, स्थविर संप्रदाय के सूत्र, विनय और अभिधर्मजातीय १४ ग्रंथ, महासांघिक संप्रदाय के इसी श्रेणी के १५ ग्रंथ, महीशाखक संप्रदाय के तीनों श्रेणियों के २२ ग्रंथ, काश्यपीय, धर्मगुप्त और सर्वास्तिवादी संप्रदायों के इसी प्रकार के क्रमशः १७, ४२ और ६७ ग्रंथ साथ ले गए थे। इस ग्रंथराशि का उद्धार अभी नहीं हुआ है। विक्रम की छठी शती के मध्य या उत्तर भाग में बौद्ध धर्म जापान पहुँचा और सातवीं-आठवीं शती में ओर देश (तिब्बत) में। कंबोडिया,

विक्रम की छठी से पंद्रहवीं शती तक की धर्म-साधना

६७

सुमात्रा, जावा, श्याम और वाली आदि में बौद्ध, शैव और वैष्णव धर्मों का प्रवेश इसी काल में हुआ, इस प्रकार हमारे आलोच्य काल के पूर्वार्ध में समूचे पूर्वी देशों में भारतीय धर्म पहुँच चुका था। स्वयं भारत ने भी इसी काल में एक आर्य धर्म को आश्रय दिया। मुसलमान नेताओं के भय से भागे हुए जरथुस्त धर्मवालों ने आलोच्य काल के पूर्वार्ध के अंतिम वर्षों में इस देश में आश्रय पाया था। यह कहना अत्युक्ति नहीं है कि पूर्वार्ध काल जागरण, चिंतन, कर्मण्यता और मानसिक औदार्य का है। परंतु उत्तरार्ध में शिथिलता अधिक लक्षित होती है। इस काल में भारत का विदेशों से संबंध उत्तरोत्तर शिथिल होता जाता है, इसलाम जैसे नए शक्तिशाली और संघटित धर्म-संप्रदाय से संघर्ष होता है, टीकाओं और निबंधों पर आश्रित होने की प्रवृत्ति बढ़ती आती है, शास्त्रीय मतवादों को लोकधर्म के सामने झुकना पड़ता है और अंत में लोकधर्म प्रबल भाव से शास्त्रमत को अभिभूत कर लेते हैं।

पूर्वार्ध काल में कुमारिल और प्रभाकर जैसे विख्यात मीमांसकों का प्रादुर्भाव हुआ, जिन्होंने कर्म-मीमांसा को नवीन शक्ति के रूप में उज्जीवित किया और भुवन-विश्रुत आचार्य शंकर का प्रादुर्भाव हुआ, जिनके अद्वैतवाद ने प्रायः सभी वैदिक संप्रदायों को प्रभावित किया; सर्वतंत्रस्वतंत्र वाचस्पति मिश्र का उद्भव भी इसी काल में हुआ। संभवतः न्याय दर्शन पर लिखा हुआ वात्स्यायन भाष्य इसी काल के आरंभ में लिखा गया और 'न्यायवार्तिक' के प्रसिद्ध आचार्य उद्योतकर का जन्म तो निश्चित रूप से इसी काल में हुआ। प्रसिद्ध बौद्ध माध्यमक आचार्य चंद्रकीर्ति ने इसी काल में 'माध्यमकावतार' और 'प्रसन्नपदा' (नागार्जुन की कारिका पर टीका) लिखी। इनका समय विक्रम की सातवीं शती का उत्तरार्ध है। शांतिदेव, जिनका 'बोधिचर्यावतार' त्याग और आत्मबलिदान का अपूर्व ग्रंथ है, इसी काल में हुए थे। विज्ञान-वादियों के आचार्य चंद्रगोमिन् भी इसी समय हुए और समंतभद्र और अकलंक जैसे जैन मनीषी भी इसी काल में प्रादुर्भूत हुए। काव्य, नाटक, कथा, आख्यायिका, अलंकार आदि के क्षेत्रों में इस काल में जो प्रतिभाशाली व्यक्ति पैदा हुए वे पर्याप्त प्रसिद्ध हैं।

इस युग के धर्म-विश्वास के मनन के लिये सबसे उपयोगी ग्रंथ पुराण,

आगम, तंत्र और संहिताएँ हैं। परंतु पुराणों के बारे में यह कहना कठिन है कि कौन सा पुराण या उसका अंश विशेष कब रचा गया। भारतीय साहित्य में पुराण कोई नई चीज नहीं हैं। धर्मसूत्रों और 'महाभारत' में पुराणों की चर्चा आती है। 'आपस्तंबीय धर्मसूत्र' में तो पुराणों के वचन भी उद्धृत हैं। मनोरंजक बात यह है कि प्रायः सभी मुख्य पुराणों में अष्टादश पुराणों की सूची दी हुई है। अर्थात् प्रत्येक पुराण यह स्वीकार करता है कि उसकी रचना के पहले अन्यान्य पुराण बन चुके थे। इतना तो निश्चित है कि हमारे आलोच्य काल के पूर्वार्ध के समाप्त होते होते प्रायः सभी पुराण लगभग उसी स्वरूप को प्राप्त कर चुके थे जिसमें वे उपलब्ध हैं। उनमें प्रक्षेप-परिवर्धन बाद में भी होता रहा है, परंतु परवर्ती काल में सांप्रदायिक प्रवृत्ति की स्थिति इतनी स्पष्ट है कि इन प्रक्षिप्त-परिवर्धित अंशों को खोज निकालना बहुत कठिन नहीं है। उदाहरणार्थ, 'भागवत पुराण' को सर्वश्रेष्ठ प्रमाण के रूप में स्वीकार करने की प्रवृत्ति बाद में आई है और पद्म पुराणांतर्गत पाताल खंड का जो 'नरसिंह उपपुराण' है उसमें यह प्रवृत्ति है, इसलिये हम उसे परवर्ती समझ सकते हैं। 'पद्म पुराण' के उत्तर खंड में और 'स्कंद पुराण' के वैष्णव खंड में भी ऐसी ही प्रवृत्ति है, इसलिये इन्हें भी हम परवर्ती कह सकते हैं। 'शिव पुराण' की वायवीय संहिता, और 'देवी भागवत' में उत्तरकालिक संप्रदायों की बातें होने से उनका काल भी बाद का ही होगा। जो हो, हम इतना मान ले सकते हैं कि मुख्य मुख्य पुराणों की रचना इस काल में बहुत कुछ समाप्त हो चुकी थी। इन अठारह पुराणों के नाना भाँति से विभाग किए गए हैं। बताया गया है कि इनमें से छः तामस प्रकृति के मनुष्यों के लिये हैं, छः राजस प्रकृतिवालों के लिये और छः सात्त्विक प्रकृतिवालों के लिये। वैष्णव पुराणों को सात्त्विक कहा गया है; इसलिये यह अनुमान संगत ही है कि यह विभेद परवर्ती वैष्णव कल्पना है। हमारे आलोच्य काल के आरंभ में ही पंचदेवों—विष्णु, शिव, दुर्गा, सूर्य और गणपति—की उपासना।

१—देखिए विष्णु पुराण ३६, भागवत १२-१३, वाराह ११२, मत्स्य ५३, अग्नि १७२ इत्यादि।

विक्रम की छठी से पंद्रहवीं शती तक की धर्म-साधना

६६

चल पड़ी थी। अनुश्रुति शंकराचार्य को इस उपासना का आदि-प्रचारक मानती है। पंचदेवों में ब्रह्मा का नाम न आने से कुछ पंडित अनुमान करते हैं कि यह निश्चय ही उस समय की कल्पना होगी जिस समय ब्रह्मा की पूजा उठ चुकी रही होगी। विक्रम की सातवीं शती के आसपास इस प्रकार की कल्पना की गुंजाइश है। इस अनुमान के साथ अनुश्रुति का कोई विरोध नहीं देख पड़ता। इसलिये यह कहना असंगत नहीं है कि शंकराचार्य के समय में ही यह उपासना प्रचलित हुई। स्मार्त लोग पंचदेवोपासक हैं, वे शंकर को मानते भी हैं; यद्यपि उनका विरोध किसी से नहीं है तथापि व्यवहार में स्मार्त और वैष्णव विरोधी-जैसे ही लगते हैं। अनेक पुराण पंचदेवों की उपासना पर जोर देते हैं। पंडितों का अनुमान है कि 'गरुड़ पुराण' स्मार्तों का पुराण है और 'अग्नि पुराण' भी स्मार्त ग्रंथ ही है—यद्यपि उसमें वैष्णव उपादान अधिक हैं। इन दोनों पुराणों में आगमों और तंत्रों का प्रभाव है। कहा गया है कि नारद, वाराह, वामन और ब्रह्मवैवर्त पुराणों में वैष्णव भाव है और शिव, लिंग और कूर्म पुराणों में शैव भाव। पंडितों का यह अनुमान पुराणों की अंतस्साक्षि के अनुसार संगत नहीं जान पड़ता। 'स्कंद पुराण' के केदार खंड के अनुसार अठारह पुराणों में दस शैव, चार ब्राह्म, दो शाक्त और दो वैष्णव हैं।^१ इसी पुराण में शिव-रहस्य खंड के अंतर्गत संभव कांड में उनके और ही तरह से नाम भी बताए गए हैं। शिव, भविष्य, मार्कंडेय, लिंग, वाराह, स्कंद, मत्स्य, कूर्म, वामन और ब्रह्मांड ये दस शैव पुराण हैं; विष्णु, भागवत, नारदीय और गरुड़ ये चार वैष्णव पुराण हैं, ब्रह्म और पद्म ये दो ब्राह्म पुराण हैं; 'अग्नि पुराण' अग्नि की और 'ब्रह्मवैवर्त पुराण' सूर्य की महिमा गाते हैं।^२

१—देखिए फर्कुहरकृत 'ऐन आउटलाइन आव् दि रिलिजस लिटरेचर इन इंडिया, पृष्ठ १७८-६।

२—अष्टादशपुराणेषु दशभिर्गीयते शिवः ।
चतुर्भिर्भगवान् ब्रह्मा द्वाभ्यां देवी तथा हरिः ॥ अ० १

३—तत्र शैवानि शैवं च भविष्यं च द्विजोत्तमाः ।
मार्कण्डेयं तथा लिंगं वाराहं स्कान्दमेव च ॥ ३० ॥

नागरीप्रचारिणी पत्रिका

हमने अपने आलोच्य काल के पूर्वार्ध को तंत्र-प्रभाव का काल कहा है। 'तंत्र' क्या है? तंत्र शब्द का शास्त्र, सिद्धांत, ग्रंथ आदि भिन्न भिन्न अर्थों में प्रयोग हुआ है। शैव सिद्धांत के कायिक आगम में बताया गया है कि तंत्र को तंत्र इसलिये कहते हैं कि वह तत्त्वमंत्रसमन्वित विपुल अर्थों का विस्तार करता है और साधकों का त्राण भी करता है^१। साधारण तौर पर समझा जाता है कि तंत्र शाक्त ग्रंथों का नाम है। परंतु सभी प्रकार के आगमों को तंत्र कहा गया है। ये आगम तीन श्रेणी के हैं—वैष्णव, शैव और शाक्त। व्यवहार में इन तीनों के अधिक प्रचलित नाम क्रमशः संहिता, आगम और तंत्र हैं, परंतु वस्तुतः इन तीनों का ही सामान्य नाम आगम और तंत्र है। 'श्रीमद्भागवत' में पांचरात्र या सात्वत संहिताओं को सात्वत तंत्र कहा गया है^२। आगमों में कुछ को वैदिक कहा जाता और कुछ को अवैदिक। हमने पहले ही कहा है कि हमारे आलोच्य काल में किसी संप्रदाय को अवैदिक कहकर लोकचक्षु में उसे हीन प्रमाणित कर देने की प्रवृत्ति प्रबल थी। संभवतः जिस समय बौद्ध धर्म क्षीणप्रभाव हो चुका था, नया ब्राह्मणधर्म पूर्ण पराक्रम से जाग पड़ा था और गुप्त नरपतियों

मात्स्यमन्यत्तथा कौर्म वामनं च मुनीश्वराः ।

ब्रह्माण्डं च दशेमानि त्रीणि लक्षानि संख्यया ॥ ३१ ॥

विष्णोर्हि वैष्णवं तच्च तथा भागवतं तथा ।

नारदीयं पुराणं च गारुडं वैष्णवं विदुः ॥ ३३ ॥

ब्राह्मं पाद्मं ब्रह्मणो द्वे आग्नेराग्नेयमेककम् ।

सवितुर्ब्रह्मवैवर्तमेवमष्टादश स्मृतम् ॥ ३४ ॥

—संभव कांड, अ० २

१—तनोति विपुलानर्थान् तत्त्वमंत्रसमन्वितान् ।

त्राणं च कुरुते यस्मात्तन्त्रमित्यभिधीयते ॥

—सर जान उडरफ की 'शक्ति एंड शाक्त' पृष्ठ १८ में उद्धृत

२—तेनोक्तं सात्वतं तन्त्रं यज्ज्ञात्वा मुक्तिभागभवेत् ।

यत्र स्त्रीशूद्रदासानां संस्कारो वैष्णवः स्मृतः ॥ —भागवत

विक्रम की छठी से पंद्रहवीं शती तक की धर्म-साधना

७१

की छत्रच्छाया में जब नई राष्ट्रीय उमंग देश के कोने कोने में व्याप्त हो चली थी उस समय अपने को वैदिक प्रमाणित करना लोकदृष्टि में ऊँचे उठने का साधन था। जिन धर्म-संप्रदायों का लोक में प्रभाव था वे अपने को श्रुतिसंमत सिद्ध कर रहे थे और अन्य संप्रदायों को उसी उत्साह के साथ श्रुति विगर्हित बता रहे थे। 'कूर्म पुराण' में कापाल, लकुल, वाम, भैरव, पूर्व, पश्चिम, पांचरात्र, पाशुपत आदि को अवैदिक आगम बताया गया है। अवश्य ही पाशुपतों के दो भेद बताए गए हैं, जिनमें से कपाल, लकुल, सोम और भैरव अवैदिक हैं, शेष वैदिक। शंकराचार्य ने पाशुपत मत को अवैदिक ही समझा था^१। स्वयं शांकरमत पर भी विरोधियों ने असत् और अवैदिक होने का आरोप किया था—'मायावादमसच्छास्त्रं प्रच्छन्नं बौद्धमेव च'।

१—एवं संबोधितो रुद्रो माधवेन मुरारिणा ।

चकार मोहशास्त्राणि केशवोऽपि शिवेरितः ॥

कापालं लाकुलं वामं भैरवं पूर्वपश्चिमम् ।

पाञ्चरात्रं पाशुपतं तथान्यानि सहस्रशः ॥

—कूर्म पुराण १६ अध्याय, पृष्ठ १८४ (कलकता, सन् १८६०) ।

अन्यानि चैव शास्त्राणि लोकेऽस्मिन्मोहनानि तु ।

वेदवादविरुद्धानि मयैव कथितानि तु ॥

वामं पाशुपतं सोमं लाकुलं चैव भैरवम् ।

असेव्यमेतत्कथितं वेदबाह्यं तथेतरम् ॥

वेदमूर्तिरहं विप्रा नान्यशास्त्रार्थवेदिभिः ।

शायते मत्स्वरूपन्तु मुक्त्वा देवं सनातनम् ॥

स्थापयध्वमिदं मार्गं पूजयध्वं महेश्वरम् ।

ततोऽचिराद्वरं ज्ञानमुत्पत्स्यति न संशयः ॥

—वही, उत्तर भाग, अ० ३८, पृष्ठ ७४१ ।

२—सा चेयं वेदबाह्येश्वरकल्पनानेकप्रकारा...माहेश्वरास्तु मन्यन्ते कार्यकारण-योगविधिदुःखान्ताः पञ्चपदार्थाः पशुपतिपतिनेश्वरेण पशुपाशविमोक्षणायोपदिष्टाः पशु-पतिरीश्वरो निमित्तकारणमिति वर्णयन्ति ।—शारीरक भाष्य २, २, ३७ ।

किसी आधुनिक पंडित ने 'आगम' (= आया हुआ) शब्द का व्युत्पत्ति-लभ्य अर्थ देखकर अनुमान भिड़ाया है कि इस नाम के शास्त्र वैदिक धर्म में बाहर से आकर जुड़ गए हैं। आगम का शास्त्रीय अर्थ यह नहीं है। आगम उस शास्त्र को कहते हैं जिससे मोक्ष और भोग के उपाय समझ में आएँ। यहाँ यह बात स्पष्ट रूप से समझ लेनी चाहिए कि अन्य संप्रदायों को अवैदिक कहना उस युग की प्रवृत्ति ही है। कहने मात्र से कोई धर्म वैदिक या अवैदिक नहीं है। आगमों में से सभी एक स्वर से अपने को वैदिक मानते हैं। शंकराचार्य ने 'शारीरक भाष्य' में पांचरात्र मत को वेदबाह्य माना है। पांचरात्र मत की चतुर्व्यूह कल्पना को, जिसकी चर्चा आगे की जायगी, उद्धृत करके उसे अयुक्तिसंगत बताया है^१। उन्होंने पांचरात्रों के किसी शास्त्र से यह अनुश्रुति उद्धृत की है कि चारों वेदों में परम श्रेय न पाकर शांडिल्य ने इस शास्त्र को प्राप्त किया था। ऐसा कहना उनके मत से स्पष्ट ही वेद की निंदा है। रामानुजाचार्य ने 'श्री-भाष्य' में इसका उत्तर दिया है। उन आगमों के अनुयायियों ने, जिन्हें वेदबाह्य कहा गया है, अपने मत को वेदसंमत सिद्ध किया है। वास्तविक तथ्य यह है कि इस काल की कोई भी कृति सर्वांशतः वेद की प्रतिध्वनि नहीं है—यद्यपि वेदों में सबका मूल खोज लिया गया है। धार्मिक साधना जीवंत वस्तु है। वह आसपास से अपने विकास के लिये पोषक द्रव्य संग्रह करती है। आगमों में भी ऐसा ही हुआ है। उनमें भी ऐसी बातें अवश्य हैं जो वेदों में या तो कम हैं या हैं ही नहीं। समस्त आगमों में कुछ बातें सामान्य पाई जाती हैं, जो इस युग की विशेषता है।

ऊपर आगमों के जो तीन भेद बताए गए हैं उनके और भी उपभेद हैं। वैष्णव आगम दो प्रकार के हैं—पांचरात्र संहिताएँ और वैखानस संहिताएँ। शैवों के कई संप्रदाय हैं—माहेश्वर, लकुल, भैरव, काश्मीर शैव आदि, जिनकी चर्चा हम आगे करेंगे। शाक्तों के भी नौ आम्राय और चार

१— तत्त्व वैशारदी, १, ७ । २—शारीरक भाष्य, २, २, ४५ ।

विक्रम की छठी से पंद्रहवीं शती तक की धर्म-साधना

७३

संप्रदाय हैं—केरल, काश्मीर, गौड़ और विलास । भारतवर्ष में बंगाल और असम शाक्तों के प्रधान स्थान हैं, यद्यपि ये सारे भारत में पाए जाते हैं । इनका संबंध उत्तर के शैवों से है, किसी समय कश्मीर में जिनका प्राधान्य था । इन सभी संप्रदायों के आगमों में थोड़ा बहुत अंतर होते हुए भी समानता बहुत अधिक है । सभी आगम अपने अपने उपास्य देव को परम तत्त्व के रूप में स्वीकार करते हैं ; देवता की शक्ति या शक्तियों में और ईश्वर की इच्छा-शक्ति तथा क्रिया-शक्ति में विश्वास करते हैं ; जगत् को परम तत्त्व का परिणाम मानते हैं ; भगवान् की क्रमिक उद्भूति (व्यूह, आभास) आदि का समर्थन करते हैं ; शुद्ध और शुद्धेतर पर आस्था रखते हैं ; माया के कोश-कंचुक (पांचरात्रों के संकोच से तुलना) की कल्पना करते हैं ; प्रकृति से परे परमतत्त्व को समझते हैं ; आगे चलकर सृष्टिक्रम में प्रकृति को स्वीकार करते हैं ; सांख्य के सत्त्व, रज और तम गुणों को मानते हैं ; भक्ति पर जोर देते हैं ; उपासना में सभी वर्णों और पुरुष तथा स्त्री दोनों का अधिकार मानते हैं ; मंत्र, बीज, यंत्र, मुद्रा, न्यास, भूतसिद्धि और कुंडलिनी-योग की साधना करते हैं ; चर्या (धर्म-चर्या), क्रिया (मंदिरनिर्माण आदि) का विधान करते हैं^१ । वस्तुतः जैसा कि उडरफ ने कहा है मंत्र, यंत्र, न्यास, दीक्षा, गुरु आदि तत्त्व जिसमें हैं वही तंत्रशास्त्र है और इस दृष्टि से सभी आगम-शास्त्र निश्चय ही तांत्रिक प्रभावापन्न हैं । आगमों में विभेद अनेक हैं, पारिभाषिक शब्द भी एक नहीं हैं पर मूल स्वर सबका एक ही है । उडरफ ने ठीक ही कहा है कि मूल सुर इतना ऐक्यमय है कि पारिभाषिक शब्दों के भेद से कुछ बनता-बिगड़ता नहीं । पांचरात्रों की भाषा में लक्ष्मी, शक्ति, व्यूह और संकोच कहें या शाक्तों की भाषा में त्रिपुरसुंदरी, महाकाली, तत्त्व और कंचुक कहें, इनमें कुछ विशेष भेद नहीं रह जाता^२ ।

(क्रमशः)

१—देखिए सर जान उडरफकृत 'शक्ति एंड शाक्त'; पृष्ठ २३ । २—वही, पृष्ठ २४ ।

समीक्षा

विलासिनी—लेखक—श्री भगवतशरण, उपाध्याय । प्रकाशक—प्रयाग पब्लिशिंग हाउस, इलाहाबाद । मूल्य १।) ।

उपाध्यायजी ने पुराकालीन कहानियाँ लिखकर हिंदी-साहित्य में यश अर्जित किया है । प्रस्तुत कहानी-संग्रह के कथानक विदेशों से संबन्ध रखते हैं । कहानीकार के शब्दों में इन कहानियों का 'उद्देश्य सर्वथा मनोरंजन है' । परंतु मनोरंजन होते हुए भी कतिपय कहानियों में मनुष्य की उदात्त वृत्तियों का बहुत ही सुंदर उद्घाटन हुआ है । यद्यपि मन के गूढ़ भावों और उनके द्वंद्वों का चित्रण करने की ओर कहानीकार विशेष प्रवृत्त नहीं हुआ है तथापि कुछ पात्रों का शील-निदर्शन मार्मिक हुआ है । 'मन की थाह', 'इंसाफ' और 'मिट गए' इस संग्रह की विशेष द्रष्टव्य कहानियाँ हैं । किसी कहानी में पाठक की कुतूहल-वृत्ति अंत तक बनाए रखने का प्रयास है, किसी में आकस्मिकता (कोइंसीडेंस) के आधार पर कहानी का ढाँचा खड़ा किया गया है और किसी में रहस्यपूर्ण घटनाओं का घटाटोप है । सब मिलाकर 'विलासिनी' द्रष्टव्य है ।

विजयशंकर मल्ल

विश्वसंस्कृति का विकास—लेखक—श्री कालिदास कपूर । प्रकाशक—विद्यामंदिर, चौक, लखनऊ । मूल्य १।) ।

संस्कृति-विषयक पुस्तक प्रस्तुत करने के कारण श्री कालिदास कपूर धन्यवाद के पात्र हैं । किंतु १०७ पृष्ठों में विश्वसंस्कृति तो क्या, एक राष्ट्र की संस्कृति का भी विवेचन संभव नहीं है । अतः इस पुस्तक को मूल विषय की रूपरेखा मात्र समझना ही ठीक होगा । लेखक ने क्रमशः आठ अध्यायों में निम्नलिखित विषयों का प्रतिपादन किया है—१-मानव-जीवन की पहली झलक; २-मानवता के प्रथम उपदेशक; ३-यूनान तथा रोम; ४-मध्यकालीन संसार; ५-योरपीय सभ्यता की दिग्विजय; ६-फ्रांस की क्रांति और राष्ट्रीयता का विकास; ७-व्यावसायिक क्रांति और राष्ट्रीय संघर्ष तथा ८-नवीन युग ।

कृष्णाचार्य

आदमखोर—लेखिका—श्रीमती चंद्रकिरण सौनरेक्सा । प्रकाशक—श्रीरामचंद्र भारती, सरस्वती पुस्तक-मंदिर, जोगीवाड़ा, नई सड़क, दिल्ली । मूल्य २।) ।

'आदमखोर' में बारह कहानियाँ संगृहीत हैं । इनमें श्रीमती सौनरेक्सा ने नारी-जीवन के जो मार्मिक चित्र प्रस्तुत किए हैं वे स्मरणीय रहेंगे । यदि हमारी समाज-व्यवस्था भविष्य में भी आज की सी ही विषम बनी रही तो इन कहानियों का प्रभाव कम न होगा । यदि अवस्था सुधरी तो भी हमारी दुर्दशा के ये चित्र अमिट रहेंगे । अकीला, लक्ष्मी, कुसुम, नंदी आदि हमारे स्मृतिपट से कभी हट नहीं सकतीं । इन कहानियों में नारी-जीवन के ही नहीं नर-जीवन के भी चित्र हैं, और सत्येंद्र तथा अख्तर जैसे प्रभावशाली चरित्र निर्मित किए गए हैं । सभी कहानियाँ हमारे वर्तमान जीवन के यथार्थ से संबद्ध हैं । प्रायः सभी कहानियों का आरंभ आकर्षक और उत्सुकतापूर्ण है मानसिक संघर्ष के चित्र भी अच्छे हैं—जैसे 'अकीला' नामक कहानी में । भाषा चलती और लोकोक्तियों तथा मुहावरों से अलंकृत है वह अब साफ हो चली है ।

शिवनाथ

सभा की प्रगति

[वैशाख, २००२—आश्विन, २००२]

सभासद

आश्विन के अंत में सदस्य-संख्या २२६८ थी। सभासदों में ६ वाचस्पत्य, ४६ मान्य, ६७ विशिष्ट, ४१६ स्थायी तथा १७२७ साधारण सभासद हैं।

वार्षिक अधिवेशन

सभा का ५२वाँ वार्षिक अधिवेशन १४ श्रावण को हुआ, जिसमें सभा की नियमावली में परिवर्तन करने के संबंध में निम्नलिखित प्रस्ताव स्वीकृत हुए—

(१) नियम १८ के आरंभ में 'कार्यालय, पुस्तकालय तथा कलाभवन' के स्थान पर 'कार्यालय तथा पुस्तकालय' कर दिया जाय। (२) नियम २६ के (क) तथा (ख) उपविभागों के संबंध में यह पादटिप्पणी बढ़ाई जाय—'परंतु यह नियम वाचस्पत्य और मान्य सभासदों पर लागू न होगा।' (३) नियम ५४ में 'सात' के स्थान पर 'पाँच' किया जाय। (४) नियम ६० के प्रथम वाक्य में 'ग्यारह' के स्थान पर 'सात' किया जाय। (५) नियम ६० (ठ) के पश्चात् एक विभाग इस प्रकार जोड़ा जाय—'(ण) प्रबंध-समिति या साधारण सभा का कोई अधिवेशन यदि गण-पूर्ति (कोरम) की कमी के कारण किसी दूसरे दिन के लिये स्थगित किया जाय तो इस दूसरे दिन के अधिवेशन में, जिसको 'स्थगित अधिवेशन' कहा जायगा, कोरम पूरा हुए बिना भी काम हो सकेगा। परंतु शर्त यह है कि इस अधिवेशन की सूचना सब सदस्यों को दी जायगी और इसमें उसी कार्यक्रम पर विचार हो सकेगा जो पहले अधिवेशन के लिये निश्चित था।' (६) नियम ६२ तथा ६३ के प्रथम वाक्यों में 'वैशाख' के स्थान पर 'चैत्र' कर दिया जाय। (७) नियम ६४ (छ) में पंक्ति ३ में 'सब सभासदों' के स्थान पर 'बाहरी सभासदों के पास और कम से कम ८ दिन पूर्व नगरस्थ सभासदों' कर दिया जाय।

उक्त वार्षिक अधिवेशन में संवत् २००२ के लिये सभा के निम्नलिखित पदाधिकारी चुने गए—

सर्वश्री मैथिलीशरण गुप्त—सभापति । संपूर्णानंद—उपसभापति (१) ।
शिवकुमार सिंह —उपसभापति (२) । रामनारायण मिश्र—प्रधान मंत्री ।

विश्वनाथप्रसाद मिश्र—साहित्य-मंत्री । मुरारीलाल केडिया—अर्थ-मंत्री । जीवनदास—प्रकाशन-मंत्री । देवीनारायण ऐडवोकेट—प्रचार-मंत्री । रामप्रसाद—आय-व्यय-निरीक्षक ।

उक्त वार्षिक अधिवेशन में तथा उसके बाद होनेवाली साधारण सभा की बैठक में प्रबंध-समिति के निम्नलिखित सदस्य चुने गए—

(संवत् २००२ से २००४ तक)

सर्वश्री रामेश्वरसहाय सिनहा, काशी । कृष्णदेवप्रसाद गौड़, काशी । ठाकुरदास ऐडवोकेट, काशी । रामचंद्र वर्मा, काशी । ब्रजरत्नदास, काशी । घनश्यामदास पोद्दार, बंबई । ग्योहार राजेंद्र सिंह, मध्य प्रांत । सरदार माधवराव वि० किवे, इंदौर । डा० वासुदेवशरण अग्रवाल, संयुक्त प्रांत । राजा बहादुर विश्वेश्वरनाथ वाघे, हैदराबाद (दक्षिण) । शांतिप्रिय आत्माराम, बड़ौदा । ना० नागप्पा, सिंहल । सत्यनारायण, मद्रास ।

(संवत् २००३ तक)

सर्वश्री अशोक जी, काशी । राय कृष्णदास, काशी । रायसाहब परमानंद एम० ए०, काशी । श्रीनिवास, काशी । मनोरमा सैटिन, काशी । वंशगोपाल भिंगरन, संयुक्त प्रांत । केशवचंद्र शुक्ल, संयुक्त प्रांत । रायसाहब मदनमोहन सेठ, अजमेर । पुरोहित हरिनारायण शर्मा, जयपुर । स्वामी हरनामदास उदासीन, सिंध । रामधन शर्मा, दिल्ली । डा० नलिनीमोहन सान्याल, असम । जी० सच्चिदानंद, मैसूर ।

(संवत् २००२ के लिये)

सर्वश्री डा० राजेंद्रनारायण शर्मा, काशी । सहदेवसिंह ऐडवोकेट, काशी । केशवप्रसाद मिश्र, काशी । कृष्णानंद, काशी । परमेश्वरी लाल गुप्त, काशी । भागीरथ कानोडिया, बंगाल । नीतीश्वरप्रसाद सिंह, उत्कल । श्रीनारायण चतुर्वेदी, संयुक्त प्रांत । डा० कैलाशनाथ भटनागर, पंजाब । गोपालचंद्र सिंह, संयुक्त प्रांत । विद्याधर शास्त्री, बीकानेर । शिवपूजन सहाय, बिहार । (ब्रह्मदेश के प्रतिनिधि का स्थान रिक्त है ।)

अब संबद्ध संस्थाओं की संख्या ३६ है ।

पुरस्कार-पदक वितरण

सभा के निश्चयानुसार निम्नलिखित पुरस्कार-पदक संमुखांकित पुस्तकों पर उनके रचयिताओं को राष्ट्रकवि श्री मैथिलीशरण गुप्त के हीरक-जयंती-महोत्सव के अवसर पर (२७ श्रावण को) श्रद्धेय डा० भगवान्दास के हाथों अर्पित किए गए—

पुरस्कार-पदक	पुस्तक	लेखक
(१) बिड़ला-पुरस्कार तथा रेडिचे पदक (संवत् १९६७-२००१)	भारतीय दर्शन	श्री बलदेव उपाध्याय
(२) द्विवेदी पदक (संवत् २०००)	स्मृति की रेखाएँ	श्री महादेवी वर्मा
(३) „ (संवत् २००१)	चीन और ब्यांग	श्री कमलापति शास्त्री
(४) डा० हीरालाल पदक (संवत् २०००-२००१)	गणेश	श्री संपूर्णानंद

सभा की प्रगति

७७

देवनागरी लिपि में संस्कार और संशोधन

गत वर्ष श्री श्रीनिवास ने सभा के समक्ष इस आशय का प्रस्ताव उपस्थित किया था कि सभा मेरे द्वारा प्रतिसंस्कृत देवनागरी लिपि पर विचार करे और यदि उससे सहमत हो तो उसका समर्थन एवं उसके प्रचार का उपाय करे। इस प्रस्ताव पर विचार करके सभा की प्रबंध-समिति ने अपने २४ चैत्र संवत् २००१ के अधिवेशन में यह निश्चय किया कि निम्नलिखित विद्वानों की एक उपसमिति इस निमित्त नियुक्त हो कि वह यह विचार कर कि वर्तमान युग में नागरी लिपि में सुधार तथा संस्कार आवश्यक हैं या नहीं, विद्वानों के द्वारा सुझाए सुधारों और संस्कारों की प्राव्यता के विषय में प्रबंध-समिति के समक्ष अपनी संमति तीन मास में उपस्थित करे—

१-सर्वश्री केशवप्रसाद मिश्र, २-वासुदेवशरण अग्रवाल, ३-कृष्णानंद—संयोजक,
४-बाबूराव विष्णु पराङ्कर, ५-रामचंद्र वर्मा, ६-विश्वनाथप्रसाद मिश्र और
७-धीरेंद्र वर्मा।

दशमिक सिक्कों का नामकरण

भारत-सरकार सिक्कों की वर्तमान पद्धति में परिवर्तन कर देश में दशमिक पद्धति के सिक्के चलाना चाहती है। इस नवीन पद्धति के अनुसार १०० सेंट का एक रुपया होगा। भारतीय जनता पर यह विदेशी 'सेंट' शब्द अनावश्यक रूप से लाद न दिया जाय अतः इसके प्रतिकार के लिये भारत-सरकार के समक्ष सभा ने सुझाव रखा है। सिक्कों में कुछ और सुधार भी आवश्यक हैं। एक तो यह कि अठनी और चवली पर से भारत के प्रतीक कमल-चिह्न के अतिरिक्त अन्यान्य देशों के प्रतीक (जैसे स्काटलैंड का थिसल्, आयरलैंड का शैमराक तथा इंगलैंड का गुलाब) हटा दिए जायें। दूसरे यह कि देश का नाम 'भारत' अथवा 'भारतवर्ष' रखा जाय तथा देवनागरी अंकों में देशन्यापी विक्रम-संवत् का प्रयोग हो।

सभा की प्रबंध-समिति ने अपने गत अधिवेशन में भारत सरकार के अर्थ-विभाग के समक्ष निम्नलिखित प्रस्ताव उपस्थित करने का निश्चय किया है। आशा है हिंदी-प्रेमी सज्जन तथा हिंदीप्रचारिणी एवं भारतीय संस्कृति की पोषक संस्थाएँ भी इससे सहमत होंगी और इन प्रस्तावों का समर्थन करते हुए भारत-सरकार के अर्थ-सदस्य के पास अविलंब अपनी संमति भेज देंगी—

१-रुपए के सौवें भाग का नाम 'शती' रखा जाय।

२-रुपए पर भारत का प्रतीक केवल कमल रहे, अन्यान्य देशों के चिह्न न रखे जायें।

३-देश का नाम 'भारत' अथवा 'भारतवर्ष' अंकित किया जाय।

४-नागरी अंकों में विक्रम-संवत् का उल्लेख हो।

नागरीप्रचारिणी पत्रिका

इस संबंध में यह बात विचारणीय है कि सिंहल में, जहाँ सिक्कों की दशमिक पद्धति प्रचलित है, तमिल भाषा-भाषी जनता 'सेंट' के लिये 'शतम्' शब्द का प्रयोग करती है तथा सिंहली भाषा-भाषी उसे 'सियस्' कहते हैं। सिंहली भाषा का 'सियस्' शब्द हिंदी के 'सैं' या 'सौ' के समान ही संस्कृत 'शतम्' का तद्भव रूप है। नेपाल और मलय की जनता ने तो 'सेंट' को पूछा तक नहीं, वह पूर्वप्रचलित 'पैसा' से ही अपना काम चलाती है।

प्रकाशन

निम्नलिखित पुस्तकें इस छमाही में प्रकाशित हुई—

(१) नवीन संक्षिप्त हिंदी-व्याकरण,	मूल्य	१)
(२) भारतीय मूर्तिकला (पुनर्मुद्रित)	"	१।)
(३) रेडियो	"	।।।)
(४) त्रिवेणी (पुनर्मुद्रित)	"	१।)
(५) चंद्रसारणी	"	२)

निम्नलिखित पुस्तकें छप रही हैं और आशा है शीघ्र ही प्रकाशित होंगी—

- (१) प्रथम हिंदी-व्याकरण
- (२) नासिकेतोपाख्यान
- (३) हिंदुस्तानी शिष्टाचार
- (४) हिंदी निबंधमाला, भाग १

आर्यभाषा-पुस्तकालय

[वैशाख, २००२—कार्तिक, २००२]

उक्त अवधि में पुस्तकालय के सहायकों की संख्या ४०३ है जिनमें ३८ आजीवन सहायक हैं। इस समय हस्तलिखित पुस्तकों की संख्या २४५४ है तथा मुद्रित पुस्तकें १८३५६ हैं।

स्वर्गीय श्री हरिकृष्ण 'जौहर' की धर्मपत्नी ने उनके समस्त ग्रंथों का संग्रह कृपा कर पुस्तकालय को प्रदान कर दिया है, जिसमें हिंदी की ४६, बँगला की ४८, अँगरेजी की ८८ और उर्दू की २५ कुल २०७ जिल्दें हैं। एतदर्थ सभा स्वर्गीय 'जौहर' जी की धर्मपत्नी को धन्यवाद देती है।

भारत कला-भवन

भारत कला-भवन के मूर्ति-मंदिर की समस्त मूर्तियाँ तथा पुरातत्त्व-विषयक सामग्री कालक्रमानुसार व्यवस्थित कर दी गई है। चित्र-मंदिर में शैली क्रम के

सभा की प्रगति

७६

अनुसार नए ढंग से चित्रों की सजावट का काम हो गया है। इस अवधि में चित्रों के संग्रह में उत्तरोत्तर वृद्धि रही। दर्शकों में भारतीय तथा विदेशी सैनिकों का आधिक्य रहा। सभा की प्रबंध-समिति के सदस्य श्री देवीनारायण ऐडवोकेट ने बहुमूल्य ईरानी शैली का एक सुंदर चित्र भेंट किया है। श्रावस्ती का एक अपूर्व मृन्मूर्ति (टेराकोटा) भी संग्रह किया गया। युक्तप्रान्तीय पुरातत्त्व-विभाग ने बरनापुल से निकले ऐतिहासिक प्रस्तर-खंडों को कला-भवन में रखने की अनुमति दे दी है।

राजकीय कोश

इस विभाग का कार्य सवा वर्ष से हो रहा है। तीस से अधिक कोशों से शब्द-संग्रह हो चुका है। इनके अतिरिक्त फुटकल पुस्तकों, पत्र-पत्रिकाओं तथा अनेक सरकारी 'गजटों' से भी शब्द-संग्रह हुआ है। शब्द-संग्रह का कार्य समाप्त हो चुका है। संपादन-विभाग ने शब्दों को अकारादि क्रम से सजाकर अपना कार्य प्रारंभ कर दिया है। 'ए' और 'बी' के अंतर्गत आनेवाले शब्दों का संपादन भी हो चुका है और अब 'सी' के शब्दों का संपादन चल रहा है।

अनुशीलन-विभाग

सर पद्मपति सिंहानिया द्वारा स्थापित अनुशीलन-छात्रवृत्ति गत आश्विन मास से श्री बटेकृष्ण बी० ए० (आनर्स), एम० ए० को मिल रही है। आप रीतिकाल या शृंगारकाल की उपलब्ध सामग्री का अनुसंधान कर रहे हैं, यह सामग्री सभा में संगृहीत हस्तलिखित ग्रंथों तथा 'खोज' के विवरणों के अनुसार अन्यत्र भी उपलब्ध है। अनुसंधान के ही सिलसिले में कुछ ऐसी सामग्री भी मिली जिससे मुगल सम्राटों, अकबर से लेकर उत्तरकालीन मुअज्जमशाह शाहआलम, बहादुरशाह तक की बहुत सी ऐतिहासिक घटनाओं के ऐसे विवरण प्राप्त हुए जो यत्र तत्र प्रस्तुत इतिहासों के विरुद्ध जाते हैं, पर हैं तत्कालीन कवियों द्वारा दिए गए। साथ ही गंग, नरहरि आदि कई कवियों के समय, रचना आदि के विषय में भी नवीन बातों का उद्घाटन हुआ है, जो निबंधों के रूप में क्रमशः प्रकाशित किया जायगा। शृंगारकालीन सामग्री एकत्र करते समय इसका भी संकेत मिला कि हिंदी में सूफियों से पृथक् भारतीय परंपरा के प्रेम-प्रबंधों की स्वकीय शाखा भी है, जो रहस्यवाद से एकदम अलूती है। श्री बटेकृष्ण संप्रति हिंदी के इन्हीं शुद्ध भारतीय प्रेम-प्रबंधों को लक्ष्य कर इस विभाग के अध्यक्ष के निर्देशानुसार अनुसंधान कर रहे हैं। इस विभाग के अध्यक्ष श्री विश्वनाथप्रसाद मिश्र हैं।

डा० श्यामसुंदरदास का निधन

अत्यंत खेद के साथ यह हृदयविदारक दुस्संवाद देना पड़ रहा है कि सभा के प्रमुख संस्थापक साहित्यवाचस्पति डा० श्यामसुंदरदास अब हमारे बीच नहीं रहे।

अपनी कर्मठता, कार्यकुशलता और मनोयोग से उन्होंने लगभग आधी शती तक इस सभा का संचालन किया और देश के विद्वद्वर्ग में सभा के प्रति वे वह आस्था और निष्ठा जागरित करने में सफल हुए जो किसी भी अच्छी से अच्छी संस्था के लिये गौरव की वस्तु है। सुर्वजनिक कार्यक्षेत्र से पृथक् हो जाने पर भी वे सदैव एक प्रेरक शक्ति की भाँति अनेकानेक महत्त्वपूर्ण योजनाओं का सफल प्रवर्तन करते रहे। हिंदी-जगत का जो विशिष्ट स्थान डा० महोदय रिक्त कर गए उसकी सहसा पूर्ति असंभव है, शोकसंतप्त सभा-परिवार तो सुदीर्घ काल तक इस शोकाग्नि में दग्ध होता रहेगा।

उनकी मृत्यु के दूसरे दिन नागरीप्रचारिणी सभा में काशीवासियों तथा सभा के सदस्यों की जो सभा श्री मैथिलीशरण गुप्त के सभापतित्व में हुई थी उसमें दिवंगत आत्मा के प्रति निम्नलिखित शोक-प्रस्ताव स्वीकार किया गया—

‘काशी नागरीप्रचारिणी सभा तथा काशी के साहित्य-प्रेमी सभा के प्रमुख संस्थापक और संवर्द्धक, हिंदी साहित्य-सम्मेलन के प्रवर्तक, नागरी हिंदी के महान् प्रचारक और संपोषक, काशी हिंदूविश्वविद्यालय के हिंदी-विभाग के प्रथम अध्यक्ष, साहित्यवाचस्पति रायबहादुर डा० श्यामसुंदरदास जी के देहावसान पर हार्दिक शोक प्रकट करते हुए उनकी आत्मा की सद्गति एवं उनके परिवार के लिये धैर्य की प्रार्थना करते हैं एवं सभा को उनकी स्थायी कीर्ति मानते हुए गर्व का अनुभव करते और उनकी आत्मा के प्रति परम कृतज्ञतामयी श्रद्धांजलि समर्पित करते हैं।’

डा० श्यामसुंदरदास पुरस्कार

डा० श्यामसुंदरदास इस सभा के रूप में यद्यपि अपना अत्यंत दृढ़ स्मारक छोड़ गए हैं तथापि यह हिंदी भाषा-भाषी मात्र का कर्तव्य है कि उनके अत्यंत प्रिय कार्य—हिंदी-भाषा तथा साहित्य एवं देवनागरी लिपि के प्रचार और उन्नति—में यथाशक्ति योग देकर उसे आगे बढ़ाए। सभा ने यह निश्चय किया है कि १००० तथा २००० के दो पुरस्कार प्रति चौथे वर्ष उनकी पुण्य स्मृति में दिए जायें जिनका क्रम इस प्रकार होगा—

(१) १००० का एक पुरस्कार संवत् २००५ से प्रति चौथे वर्ष दिया जायगा।

(२) २००० का एक पुरस्कार संवत् २००३ से प्रति चौथे वर्ष ऐसे लेखक की सर्वश्रेष्ठ कृति पर दिया जायगा जिनकी मातृभाषा हिंदी न हो तथा जो प्रधानतः अहिंदी भाषी प्रांत में निवास करते हों। इस प्रकार प्रति दूसरे वर्ष उनके नाम का एक पुरस्कार दिया जायगा।

ये पुरस्कार किन विषयों की रचनाओं पर दिए जाने चाहिए, यह प्रश्न अभी सभा के समक्ष विचाराधीन है। यथासंभव शीघ्र इसका निश्चय हो जायगा और उसकी घोषणा यथासमय कर दी जायगी।

सभा की प्रगति

८१

इन दोनों पुरस्कारों के लिये सभा को १००००) की स्थायी निधि संकलित करनी है। सर्वप्रथम दिए जानेवाले दोनों पुरस्कार सभा ने अपनी साधारण आय में से देना निश्चित किया है। इस बीच स्थायी निधि के १००००) संचित कर लेने हैं। प्रत्येक हिंदी-भाषी तथा प्रत्येक हिंदीप्रचारिणी संस्था से सभा का आग्रह है कि वह हिंदी के उस परम संरक्षक के निमित्त किए जानेवाले इस सदनुष्ठान में यथासाध्य अधिक से अधिक आर्थिक योग स्वयं देकर तथा अपने दृष्ट-मित्रों से दिलाकर इसकी पूर्ति में सहायक हो। इससे हिंदी के उच्च कोटि के लेखकों का उत्साहवर्धन होकर उत्तमोत्तम ग्रंथों के प्रणयन के लिये प्रेरणा मिलेगी और दिवंगतात्मा का परम प्रिय कार्य निरंतर आगे बढ़ता रहेगा। आशा है स्वर्गीय डाक्टर महोदय के भक्तों और परिचितों को यह आयोजन रुचिकर होगा और वे इसके लिये अधिक से अधिक आर्थिक योग दे और दिलाकर शोध १००००) की स्थायी निधि संचित करने में सहायक होंगे।

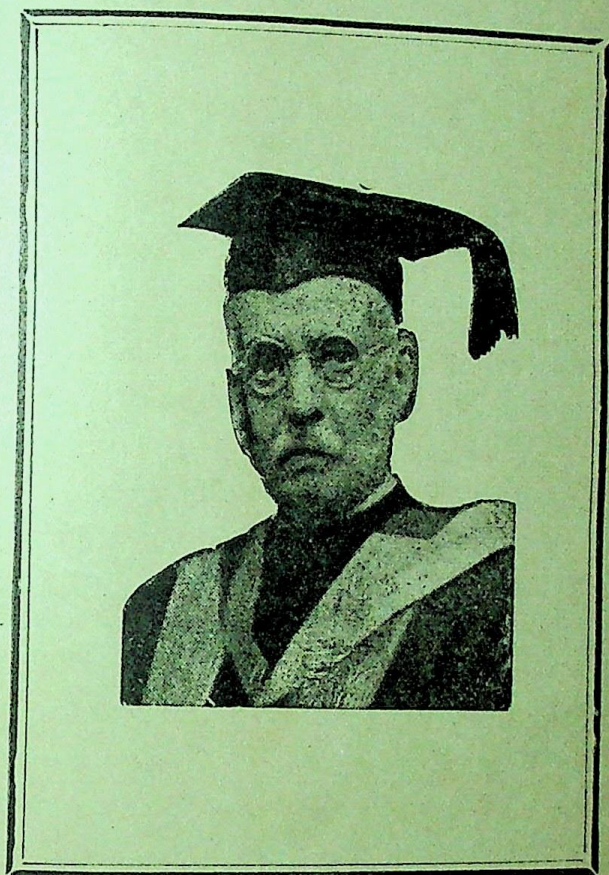
संपादकीय

दिवंगत बाबू श्यामसुंदरदास

अत्यंत शोकसंतप्त हृदय से लिखना पड़ता है कि बाबू श्यामसुंदरदास अब हमारे बीच नहीं रहे। उनके स्वर्गरोहण से उनके कुटुंबी, बंधु-बांधव, मित्र तथा साहित्यिक सभी व्याकुल हैं। बाबू साहब को अब अपने मध्य न पा 'सभा' का परिवार जिस व्यथा का अनुभव कर रहा है वह अकथनीय है। उनकी छत्रच्छाया के सहसा सिमट जाने से 'सभा' तो निरवलंब हो गई है। यद्यपि इधर कई वर्षों से बाबू साहब 'सभा' के तटस्थ द्रष्टा मात्र थे तथापि परिवार में गुरुजनों के तटस्थ द्रष्टा होने का भी विशेष मूल्य होता है, केवल इतने से ही कार्य-संचालन सुव्यवस्थित बना रहता है। 'सभा' के सौभाग्य से उसके अन्य दो संस्थापक विद्यमान हैं और उसका कार्य सुव्यवस्थित रूप से चल रहा है।

'पत्रिका' पर बाबू साहब का जो ऋण है उससे वह कभी उच्छ्रय ही नहीं हो सकती। इसके संपादन का कार्य वे अठारह वर्षों तक करते रहे। इसका जो रूप (नवीन संस्करण) आज हम देखते हैं वह संवत् १९७७ में प्रतिष्ठित हुआ। 'नवीन संस्करण' का संपादन बाबू साहब ने और पंडित गौरीशंकर हीराचंद जी ओझा ने मिलकर तेरह वर्षों तक किया। अधिकतर लेखों का संग्रह और संपादन ओझा जी करते थे और 'पत्रिका' के प्रकाशन और अक्षर-शोधन आदि की व्यवस्था बाबू साहब। चौदहवें वर्ष ओझा जी संपादन-कार्य से विरत हो गए। तब केवल बाबू साहब ने ही यह कार्य और चार वर्षों तक किया। इस प्रकार अठारह वर्षों तक उन्होंने 'पत्रिका' की निःस्वार्थ सेवा बड़ी लगन और तत्परता के साथ की।

अठारह वर्षों तक 'पत्रिका' के संपादन-कार्य में रत रहने का कारण अनुसंधान की ओर उनकी विशेष अभिरुचि थी। इस ओर उनका विशेष अभिनिवेश परिस्थिति की प्रेरणा से भी था। हिंदी-भाषा और साहित्य की ओर बाबू साहब की दृष्टि जिस समय गई उस समय हिंदी-साहित्य और उसके गौरव को प्रतिष्ठित करने की अत्यंत आवश्यकता थी। हिंदी-साहित्य कितना और कैसा है, इस तथ्य को लोक के संमुख रखने का ध्यान उन्हें भरपूर रखना पड़ा है। इसीसे उन्होंने हिंदी के प्राचीन ग्रंथों के सुसंपादन और हस्तलिखित ग्रंथों की 'खोज' के लिये कुछ उठा नहीं रखा। हिंदी के हस्तलिखित ग्रंथों की खोज का जो कार्य आज चल रहा है उसकी नींव डालनेवाले बाबू साहब ही थे। यह कार्य उनकी अनुसंधायिनी वृत्ति का द्योतक है। हिंदी के प्राचीन ग्रंथों को सुसंपादित कर या कराकर प्रकाशित करने में भी वे पूर्ण दत्तचित्त रहे। इस ओर उनकी संलग्नता के कारण ही आज हमें हिंदी के प्राचीन साहित्यकारों की सुसंपादित कृतियाँ प्राप्त हो जाती हैं। यदि इन दो अन्योन्याश्रित कार्यों की ओर बाबू साहब की दृष्टि न जाती तो



स्वर्गीय बाबू श्यामसुंदरदास



संपादकीय

५३

हिंदी-साहित्य का जो रूप हम आज देख रहे हैं वह दिखाई पड़ता अथवा नहीं, इसमें संदेह है। यह कार्य बाबू साहब ने बड़े सुअवसर पर किया—जब हिंदी-भाषा और साहित्य की प्रतिष्ठा की आवश्यकता थी। इस कार्य का आरंभ उन्होंने द्विवेदी-युग के प्रारंभिक दिनों में किया जब विदेशी साहित्य और संस्कृति की प्रचारित उच्च भावना से भारतीय दबे जा रहे थे—अपने को हीन समझ रहे थे। अंगरेजी अथवा विदेशी साहित्य का उस समय बड़ा जोर था। भारतीयों की दृष्टि अपने यहाँ के साहित्य पर कम जाती थी—हिंदी-साहित्य पर तो और भी कम। हिंदी-साहित्य की ओर बहुत कम आकृष्ट होने का कुछ कारण भी था। बात यह थी कि समस्त हिंदी-साहित्य तब तक लोगों के संमुख आ ही नहीं पाया था। मुसलमानी शासन तथा राजनीतिक परिस्थिति के कारण वह बहुत दिनों तक दबा पड़ा रहा। हिंदी-साहित्य की इस दबी सामग्री को बाहर निकालने—प्रकाशित करने—का महत्प्रयास बाबू साहब ने किया। इससे यह स्पष्ट है कि अनुसंधान कार्य में उनकी वृत्ति विशेष रमती थी। हिंदी-साहित्य के अनुसंधान-संबंधी इस कार्य के लिये हम सब उनके सदैव ऋणी रहेंगे।

यथावसर हिंदी-साहित्य की अन्य आवश्यकताओं की पूर्ति भी बाबू साहब ने की। यह सभी जानते हैं कि वे समीक्षक और निबंधकार के रूप में भी साहित्य-क्षेत्र में प्रतिष्ठित हैं। उन्होंने स्वतंत्र निबंध कम लिखे हैं, परंतु जितने लिखे हैं उनका अवसरानुकूल महत्त्व भी कम नहीं है, हिंदी-निबंधकारों की परंपरा में बाबू साहब का भी विशेष स्थान है।

समीक्षा के क्षेत्र में उनका कार्य बड़ा समर्थोपयोगी रहा। संवत् १९७७-७८ के आसपास 'साहित्यालोचन' जैसा ग्रंथ प्रस्तुत कर हिंदीवालों को समीक्षा के सामान्य सिद्धांतों से पहले पहल परिचित कराना उन्हीं का काम था। इस ग्रंथ में समीक्षा के देशी-विदेशी दोनों प्रकार के मानदंड संमुख रखे गए हैं। इस प्रकार ऐतिहासिक दृष्टि से 'साहित्यालोचन' का विशेष महत्त्व है। 'गोस्वामी तुलसीदास' में कवि के जीवनवृत्त की नूतन उपलब्ध सामग्री की छानबीन और 'रूपक रहस्य' में नाट्यशास्त्र की ऐतिहासिक और सैद्धांतिक सामग्री आकलित कर शोध-संबंधी बुझाई की शांति ही नहीं की, लोगों की साहित्यिक रुचि बढ़ाई भी।

हिंदी-साहित्य के इतिहासकार के रूप में भी बाबू साहब हमारे संमुख आते हैं। उनके 'हिंदी-भाषा और साहित्य' से सभी परिचित हैं। इसमें हिंदी-भाषा और साहित्य का विवेचनापूर्ण इतिहास प्रस्तुत किया गया है, और काव्यकला का ऐतिहासिक विवेचन अन्य ललित कलाओं के ऐतिहासिक रूपों के साहचर्य के साथ किया गया है।

भाषाशास्त्र संबंधी 'भाषा-विज्ञान' तथा 'भाषा-रहस्य' नामक ग्रंथों की रचना कर उन्होंने इस विषय की शिक्षा का मार्ग चौड़ा किया। भाषाशास्त्र संबंधी ग्रंथों की आवश्यकता की पूर्ति उन्होंने उस समय की जिस समय हिंदी की उच्च शिक्षा (एम० ए०) का श्रीगणेश हुआ।

राष्ट्रभाषा हिंदी के वे अनन्य प्रेमी थे। जब जब राष्ट्रभाषा के संबंध में हिंदी-हिंदुस्तानी का प्रश्न उठा तब तब उन्होंने हिंदी-भाषा और लिपि की यथार्थ वैज्ञानिकता दिखाकर हिंदी के पक्ष का समर्थन किया। राष्ट्रभाषा के प्रश्न पर वे बहुत निर्भीक होकर लिखते-बोलते थे। सरकार क्या किसी की भी परवाह नहीं करते थे।

इस प्रकार हम देखते हैं कि बाबू साहब का स्थान हिंदी-भाषा और साहित्य के क्षेत्र में बहुत ऊँचा है। वे इस क्षेत्र में चिरस्मरणीय रहेंगे। इन शब्दों के साथ हम उस दिवंगत आत्मा के प्रति अपनी श्रद्धांजलि अर्पित करते हैं और परमात्मा से उसकी सद्गति की प्रार्थना करते हैं।

जीवनवृत्त

बाबू श्यामसुंदरदास का जन्म अमृतसर के एक धनाढ्य और प्रतिष्ठित परिवार में आषाढ़ शुक्ल ११, मंगलवार, संवत् १९३२ (१४ जुलाई सन् १८७५) को हुआ था। आपके पूर्वज पूर्वकाल में लाहौर राज्य के प्रतिष्ठित व्यक्तियों में से थे और अवस्था बिगड़ने पर लाहौर से अमृतसर चले आए थे। आपके पिता का नाम देवीदास था।

बाबू साहब ने संवत् १९५४ (सन् १८९७) में बी० ए० पास किया और ४०) मासिक पर चंद्रप्रभा प्रेस में वे 'लिटरेरी असिस्टेंट' का काम करने लगे। संवत् १९५६ (२० मार्च सन् १८९९) से सेंट्रल हिंदू स्कूल, काशी में अध्यापक का कार्य आरंभ किया और दस वर्ष तक इस पद पर आरुढ़ रहे।

संवत् १९५० (१६ जुलाई सन् १८९३) में नागरीप्रचारिणी सभा की स्थापना हुई। इसके मंत्री बाबू साहब ही नियुक्त हुए। पहले इसका साप्ताहिक अधिवेशन होता था। आरंभ में इसकी स्थापना खिलवाड़ के रूप में ही हुई थी। संवत् १९५१-५२ में आर्यभाषा-पुस्तकालय की नींव डाली गई।

संवत् १९५७ में 'सरस्वती' का प्रकाशन हुआ। इसके संपादक-मंडल में मुख्य कार्यकर्ता बाबू साहब ही थे। बाद में उन्होंने स्वयं ही इसका संपादन किया। संवत् १९६० तक वे 'सरस्वती' के संपादक रहे।

संवत् १९६४-६५ के आसपास वे हिंदू कालिज में अंगरेजी के 'ज्यूनियर प्रोफेसर' नियुक्त हुए। संवत् १९६६ में जम्मू में नौकरी की। बाद में कालीचरण हाई स्कूल (लखनऊ) के हेडमास्टर नियुक्त हुए। संवत् १९७८ में हिंदू विश्वविद्यालय, काशी के हिंदी-विभाग के अध्यक्ष के पद पर प्रतिष्ठित हुए और संवत् १९९४ में इस पद से अवकाश ग्रहण किया।

बाबू साहब की प्रतिष्ठा भी खूब हुई। हिंदी-साहित्य-संमेलन के वे सभापति निर्वाचित हुए। सरकार ने भी उनकी हिंदी-साहित्य की सेवा के फलस्वरूप उन्हें राय-साहब और बाद में रायबहादुर की उपाधि प्रदान की। हिंदू विश्वविद्यालय ने भी उन्हें डी० लिट्० की उपाधि से विभूषित किया।

काशी नागरीप्रचारिणी सभा प्राप्य पुस्तकों की सूची

(१)

१-मनोरंजन पुस्तकमाला

१ अहिल्याबाई होल्कर	१।)
२ आत्मशिक्षण	१।)
३ आदर्श जीवन	१।।=)।।
४ आत्मोद्धार	१।।=)।।
५-७ आदर्श हिंदू—तीन भागों में	१।), १।।=)।।, १।।=)।।
८ ऐतिहासिक कहानियाँ	१।)
९ कबीर कवचानली	१।)
१० कर्तव्य	१।)
११ कर्तव्यशास्त्र	१।)
१२ गुरुगोविंद सिंह	१।।=)।।
१३ ज्योतिर्विनोद	१।।=)।।
१४-१५ तर्कशास्त्र—	
भाग १-२	१।), १।)
१६ नई कहानियाँ	१।)
१७ नैपोलियन बोनापार्ट	१।)
१८ प्राचीन आर्यवीरता	१।।=)।।
१९ पुरुषार्थ	१।)
२० बाल मनोविज्ञान	१।)
२१ भीष्म पितामह	१।)
२२ महर्षि सुकरात	१।।=)।।
२३ मानसरोवर और कैलास	१।)
२४ मितव्यय	१।।=)।।
२५ मुसलमानी राज्य का इतिहास	भाग २ १।)
२६ राणा जंगबहादुर	१।)
२७ रणजीतसिंह	१।)
२८ रोम का इतिहास	१।।=)।।
२९ लालचीन	१।।=)।।
३० विश्वप्रपंच	भाग १-२ १।), १।)

३१ वीरमणि	१।।=)।।
३२ शाही दृश्य	१।)
३३ शासनपद्धति	१।।=)।।
३४ शिशुपालन	१।)
३५ सिक्खों का उत्थान-पतन	१।)
३६ संक्षिप्त रामस्वयंवर	१।)
३७ सुंदर-सार	१।।=)।।
३८ सूर-सुधा	१।)
३९-४० हिंदी निबंधमाला—	
दो भागों में	१), १।।=)।।
४१ कृषिकौमुदी	१।।=)।।

२-नागरीप्रचारिणी ग्रंथमाला

१ अनन्य ग्रंथावली	३)
२ गीतावली	१)
३ चित्रावली	१।।)
४ तुलसी-ग्रंथावली भाग १	२)
५ दादूदयाल के सबद	।।।)
६ दीनदयाल गिरि ग्रंथावली	१)
७ दोहावली	।-)
८ नासिकेतोपाख्यान	।)
९ परमाल रासो	२)
१० प्रेमसागर	१।।)
११ भक्त नामावली	।।=)।।।
१२ भूषण ग्रंथावली	१)
१३ रानी केतकी की कहानी	(प्रेम में)
१४ सुजान चरित	२)
१५ सूरसागर प्रति संख्या १),	
आठों संख्याओं का सेट ७)	
१६ हम्मीर रासो	२)
१७ हम्मीर हठ	।।=)।।।
१८ हिममतबहादुर विरदावली	।।)

३—प्रकाशक पुस्तकमाला

१ अत्येष्टिरीपिका	१)	३२ भारतीय सृष्टिक्रम विचार	1=)
२ अन्त्योक्ति-कल्पद्रुम	11)	३३ भारतेंदु ग्रंथावली	३)
३ अर्धशताब्दी इतिहास	२11)	३४ भौतिक विज्ञान	१)
४ आदर्श और यथार्थ	111)	३५ महादेव गोविंद रानाडे	१)
५ आर्यचरितामृत	—)	३६ महाराणाप्रताप नाटक	11)
६ आयुर्वेद निदान समीक्षा	=)	३७ मध्य हिंदी व्याकरण	11=)111
७ उर्दू का उद्गम	=)	३८ मालती-माला	11)
८ उर्दू का रहस्य	111)	३९ मुगल बादशाहों की हिंदी	11)
९ कचहरी की भाषा और लिपि	111)	४० मुल्क की जवान और	
१० कालबोध	1)	फाजिल मुसलमान (उर्दू में)	1=)
११ काशी का मानमंदिर	1=)	४१ मोहन विनोद	१1)
१२ काशी प्रदर्शन	—)	४२ यूनान का इतिहास	111)
१३ गणितशास्त्र	१)	४३ रसायन-शास्त्र	111—1
१४ गोमिलीय गृहकर्म-प्रकाशिका	१11)	४४ राजस्थानी साहित्य का महत्त्व	111)
१५ गोस्वामी तुलसीदास (प्रेस में)	१)	४५ राज्य प्रबंध शिक्षा	१)
१६ त्रिवेणी	१)	४६-४७ रूपनिघंटु संख्या १, २ १11), १11)	
१७ दिल्ली की सर्व रिपोर्ट (अंगरेजी में)	१)	४८ लेखक और नागरी लेखक	—)
१८ द्विवेदी अभिनंदन ग्रंथ	१२)	४९ शेखमुहम्मद बाबा	—)
१९ नटनागर विनोद	१1)	५० संक्षिप्त हिंदी व्याकरण (प्रेस में)	
२० निगमन और आगमन	—)	५१ सत्यहरिश्चंद्र नाटक	11)
२१ पंजाब की सर्व रिपोर्ट		५२ हरिश्चंद्र काव्य	1)
(अंगरेजी में)	१)	५३ हस्तलिखित हिंदी पुस्तकों का	
२२ पंजाब में हिंदी की प्रगति	111)	संक्षिप्त विवरण ३),	३11)
२३ पद्य पारिजात	१)	५४ हिंदी टाइपराइटिंग	१11)
२४ प्रथम हिंदी व्याकरण	1—)11	५५ ५६ हिंदी पद्य पारिजात	
२५ प्रवेशिका पद्यावली	१)	दो भागों में	१)1, १1—)1
२६ पुस्तकालय की सूची भाग १	३)	५७ धर्म और विज्ञान,	२)
२७ बालशिक्षा	11=)111	५८ चंद्रमारीणी	२)
२८ बिहार में हिंदुस्तानी	1)	५९ ग्वीसेप मेजनी का जीवनचरित	111)
२९ बोपदेव	=)	६० हिंदी लेखक	—)
३० भारत-दुर्दशा	—)1	६१ हिंदुस्तानी का उद्गम	—)
३१ भाषा का प्रश्न	111)	६२ हिंदुस्तानी शिक्षाचार	
		[ले० श्रीरामनारायण मिश्र]	—)11
		६३ होरेशियस	=)

मुद्रक—वी० के० शास्त्री: ज्योतिष प्रकाश प्रेस, विश्वेश्वरगंज, बनारस ।

नागरीप्रचारिणी पत्रिका

(त्रैमासिक)



वर्ष ५०-अंक ३-४

[नवीन संस्करण]

सं० २००२

कार्तिक-माघ

विषय-सूची

विक्रम की छठी से पंद्रहवीं शती तक की धर्म-साधना—श्री हजारीप्रसाद द्विवेदी ८५
अपभ्रंश भाषा और साहित्य—प्रो० हीरालाल जैन एम० ए०, एल०-एल०बी० १००
प्रशस्तिकाव्य में इतिहास की सामग्री—श्री बटेकृष्ण बी० ए० (ग्रान्से), एम० ए० १२२
वर्तमान कविता के आविर्भाव-काल की परिस्थितियाँ—डाक्टर केसरीनारायण

शुक्ल एम० ए०, डी० लिट्० १४२

कुछ साहित्यिक शब्दों का व्युत्पादन—श्री बलदेवप्रसाद मिश्र १५१

समीक्षा १५५

भारत-कला-भवन १६१

सभा की प्रगति १६५

संपादकीय १६८

काशी नागरीप्रचारिणी सभा द्वारा प्रकाशित

‘पत्रिका’ के उद्देश्य

- १—नागरी लिपि और हिंदी भाषा का संरक्षण तथा प्रसार ।
- २—हिंदी-साहित्य के विविध अंगों का विवेचन ।
- ३—भारतीय इतिहास और संस्कृति का अनुसंधान ।
- ४—प्राचीन तथा अर्वाचीन शास्त्र, विज्ञान और कला का पर्यालोचन ।

संपादक

विश्वनाथप्रसाद मिश्र

सहायक

शिवनाथ

सूचना

‘सब श्रेणी के सभासदों को उनके सभासद होने के वर्षारंभ से सभा की मुख पत्रिका बिना मूल्य दी जायगी । पत्रिका के पुराने अंक और सभा द्वारा प्रकाशित अन्य पत्रिका तथा पुस्तकों की एक एक प्रति विशिष्ट सभासद १ मूल्य में, स्थायी सभासद ३ मूल्य में तथा अन्य प्रकार के सभासद ३ मूल्य में ले सकते हैं । परंतु प्रबंध-समिति को अधिकार होगा कि साधारण सभा की अनुमति से किसी विशेष पुस्तक को इस नियम के बाहर रखे ।’

मूल्य प्रति अंक २।।)

इस अंक का मूल्य ५)

नागरीप्रचारिणी पत्रिका

[नवीन संस्करण]

वर्ष ५०, संवत् २००२



संपादक

विश्वनाथप्रसाद मिश्र

सहायक

शिवनाथ

वार्षिक विषय-सूची

अपभ्रंश भाषा और साहित्य—प्रो० हीरालाल जैन एम० ए०, एल०-एल० बी०	१, १००
वीरगाथा-काल का जैन भाषा-साहित्य—श्री अग्रचंद नाहटा	६
मध्यदेश का भाषा-विकास—डा० बाबूराम सक्सेना ए० ए०, डी० लिट्०	२१
‘आलम’ और उनका समय—श्री विश्वनाथप्रसाद मिश्र	३४
मलिक मंझन और उनकी मधुमालत—श्री गोपालचंद्र सिंह	५५
विक्रम की छठी से पंद्रहवीं शती तक की धर्म-साधना—श्री हजारीप्रसाद	द्विवेदी ६३, ८५
प्रशस्तिकाव्य में इतिहास की सामग्री—श्री बटेकृष्ण बी० ए० (आनर्स),	एम० ए० १२२
वर्तमान कविता के अविर्भाव-काल की परिस्थितियाँ—डा० केसरीनारायण	शुक्ल एम० ए०, डी० लिट्० १४२
कुछ साहित्यिक शब्दों का व्युत्पादन—श्रीबलदेवप्रसाद मिश्र	१५१
समीक्षा	
विलासिनी—श्री विजयशंकर मल्ल	७४
विश्वसंस्कृति का विकास—श्री कृष्णाचार्य	७४
आदमखोर—श्री शिवनाथ	७४
वैशेषिक दर्शन—श्री बलदेव उपाध्याय	१५५
लिपि-विकास—श्री उ० शं० त्रि०	१५७
कामायनी-मीमांसा—श्री कृष्णाचार्य	१५७
समीक्षांजलि, सोने से पहिले तथा निर्भर और पाषाण—	
श्री विजयशंकर मल्ल	१५८
खोटा सिक्का, पंच पल्लव और पद्मराग—श्री बच्चनसिंह	१५६
गणदेवता—श्री शिवनाथ	१५६
आजकल	१६०
सभा की प्रगति	७५, १६५
भारत-कला-भवन	१६१
संपादकीय	
दिवंगत बाबू श्यामसुंदरदास	८२
तीन दिवंगत साहित्यकार (पुरोहित श्री हरिनारायण शर्मा,	१६८
श्री विश्वंभरनाथ शर्मा ‘कौशिक’ और श्री जगन्नाथप्रसाद ‘भानु’)	
श्री हरजीमल डालमिया पुरस्कार	१७०

नागरीप्रचारिणी पत्रिका

वर्ष ५०—अंक ३-४

[नवीन संस्करण] कार्तिक-माघ-सं० २००२

विक्रम की छठी से पंद्रहवीं शती तक की धर्म-साधना

श्री हजारीप्रसाद द्विवेदी

[गतांक का शेष]

पांचरात्र मत के उपासकों को भागवत कहते हैं। हमारे आलोच्य काल के पूर्वार्ध को मुख्य घटना पांचरात्र संहिताओं का अभ्युत्थान है। यह निर्णय करना कठिन है कि ये संहिताएँ कब और कहाँ लिखी गईं। श्रेडर ने अपनी महत्त्वपूर्ण कृति (इंट्रोडक्शन टु दि पांचरात्र एंड अहिर्बुध्न्य संहिता) में कहा है कि ईसवी सन् के पूर्व भी कई संहिताओं का अस्तित्व था। ईसा की आठवीं शती के पूर्व लगभग दस-बारह संहिताएँ निश्चित रूप से लिखी जा चुकी थीं। फर्कुहर का अनुमान है कि अधिक संहिताएँ छः सै से आठ सै ईसवी तक में लिखी गई हैं। श्रेडर का कहना है कि अधिक संहिताएँ उत्तर भारत में बनीं और बाद में कुछ दक्षिण भारत में भी बनीं। इन संहिताओं की आनुश्रुतिक संख्या १०८ बताई जाती है, पर संहिताओं के जो भिन्न भिन्न नाम गिनाए गए हैं उनमें सामान्य नाम ग्यारह से अधिक नहीं हैं। श्रेडर ने २१० संहिताओं के नाम गिनाए हैं, उनके मत से जिनमें से सबसे प्राचीन ये हैं—पौष्कर, वाराह, ब्राह्म, सात्वत, जयाख्य, अहिर्बुध्न्य, पारमेश्वर, सनत्कुमार, परम, पद्मोद्भव, माहेंद्र, काण्व, पाद्म और ईश्वर। हमारे आलोच्य काल में ये संहिताएँ या तो बन चुकी थीं या बन रही थीं।

पांचरात्र संहिताओं में क्या है ? शैव आगमों की भाँति इन संहिताओं में भी चार विषयों का प्रतिपादन है—(१) ज्ञान अर्थात् ब्रह्म,

जीव तथा जगत् के पारस्परिक संबंधों का निरूपण ; (२) योग, अर्थात् मोक्ष की साधनाभूत योग-प्रक्रियाओं का वर्णन ; (३) क्रिया अर्थात् देवालय का निर्माण, मूर्तिस्थापन, पूजा आदि और (४) चर्या, अर्थात् नित्य नैमित्तिक कृत्य, मूर्तियों तथा यंत्रों की पूजा-पद्धति, पर्व-विशेष के उत्सव आदि ।^१ परंतु बहुत कम संहिताओं में चारों विषयों पर ध्यान दिया गया है । कुछ में ज्ञान और योग का निरूपण तो नाम मात्र को है ; परंतु क्रिया और चर्या का विस्तारपूर्वक वर्णन सभी में हुआ है । 'पाद्म तंत्र' नामक संहिता में सभी बातें हैं ; पर योग के लिये ग्यारह, ज्ञान के लिये पैंतालीस, क्रिया के लिये दो सौ पंद्रह और चर्या के लिये तीन सौ छिहत्तर पृष्ठ खर्च किए गए हैं^२ । इसीसे संहिताओं का प्रधान वक्तव्य समझा जा सकता है । वस्तुतः क्रिया और चर्या ही संहिताओं के प्रिय और प्रधान विषय हैं और यही बात अन्यान्य आगमों के बारे में भी सत्य है । इसीलिये संहिताओं को वैष्णवों का कल्पसूत्र कहा जाना ठीक ही है । शास्त्रीय विभाग को छोड़ दिया जाय तो संहिताओं में तत्त्वज्ञान, मंत्रशास्त्र, यंत्रशास्त्र, माया-योग, योग, मंदिर-निर्माण, प्रतिष्ठा-विधि, संस्कार (आह्निक), वर्णाश्रम और उत्सव इन दस विषयों का ही विस्तार है^३ ।

पांचरात्र मत का प्रसिद्ध और विशिष्ट मत चतुर्व्यूह सिद्धांत है । इस सिद्धांत के अनुसार वासुदेव से संकर्षण (=जीव), संकर्षण से प्रद्युम्न (=मन) और प्रद्युम्न से अनिरुद्ध (=अहंकार) की उत्पत्ति होती है । शंकराचार्य ने इसी सिद्धांत का खंडन किया है । इस तथ्य से यह अनुमान किया जा सकता है कि उस युग में यही मत पांचरात्रों में अधिक प्रचलित रहा होगा । सभी संहिताओं में यह सिद्धांत नहीं पाया जाता । जिस काल की हम चर्चा कर रहे हैं उस काल में पांचरात्र संहिताएँ निश्चय ही पूजा और अन्यान्य व्रतादि अनुष्ठानों में प्रयुक्त होती रही होंगी । दक्षिण में इस समय भी बहुत से मंदिरों में भागवत अर्चक हैं, और प्राचीन काल में और भी अधिक रहे होंगे । तामिल देश के अधिकांश मंदिरों में पांचरात्र संहिताओं के अनुसार पूजा होती है, परंतु अब भी ऐसे देवालय हैं जिनमें वैखानस संहिताएँ व्यवहृत होती हैं । कहते हैं रामानुजाचार्य द्वारा विरोध के कारण बहुत से मंदिरों से वैखानस संहिताओं का व्यवहार उठ गया और उनके स्थान पर पांचरात्र संहिताओं का प्रचलन हुआ । तिरुपति के वेंकटेश्वर तथा

१—देखिए भारतीय दर्शन, पृष्ठ ४६० ।

२—देखिए श्रेडरकृत इंडोडक्शन टु दि पांचरात्र एंड अहिर्बुध्न्य संहिता, पृष्ठ २२ ।

३—देखिए वही, पृष्ठ २६ ।

विक्रम की छठी से पंद्रहवीं शती तक की धर्म-साधना

६७

कांजीवरम् के मंदिरों में अब भी वैखानस संहिताएँ व्यवहृत होती हैं। दोनों संहिताओं की अनुष्ठान-विधि में यथेष्ट अंतर है। अप्पय दीक्षित का कहना है कि पांचरात्र मत अवैदिक है और वैखानस मत वैदिक। यह लक्ष्य करने की बात है कि वेंकटेश्वर के मंदिर में, जहाँ आज तक वैखानस संहिताएँ व्यवहृत होती हैं, शिव और विष्णु दोनों की पूजा होती थी और दोनों देवताओं का समान आदर होता था। कहते हैं कि रामानुजाचार्य ने वहाँ विष्णु की पूजा की प्रधानता स्थापित की^१। इससे यह अनुमान किया गया है कि रामानुजाचार्य के पूर्व भागवत अर्चक लोग दीर्घ काल से वैखानस संहिताओं का प्रयोग करते आ रहे थे। तामिल देश में इन भागवत अर्चकों की बारह वैखानस संहिताएँ पाई गई हैं। भागवत मत के इन दो प्रकार की संहिताओं में यद्यपि चर्या और क्रिया का विस्तार ही अधिक है तथापि भक्ति पर निरंतर जोर दिया गया है। वस्तुतः इन संहिताओं के मत से भगवान् के अनुग्रह से ही जीव के मल का नाश होता है^२ और वह उनकी कृपा से ही मुक्ति पाता है। इस भवजाल से मुक्त होने का उपाय निरीह होकर भगवान् की शरण में जाना (न्यास) ही है, जो भगवान् के प्रति अनुकूलता के संकल्प, प्रतिकूलता के त्याग, रत्नकत्व में विश्वास, गोप्ता या रत्नक रूप में वरण तथा आत्मसमर्पण और कार्पण्य (निरीहता) से प्राप्य है। संहिताओं के अनुयायी द्विज के लिये यह आवश्यक था कि वह किसी योग्य गुरु से दीक्षा ले। इस दीक्षा में पाँच बातें आवश्यक थीं—(१) ताप (अर्थात् शंख, चक्र आदि की मुद्राओं को तप्त करके शरीर को चिह्नित करना), (२) पुंड्र (= तिलक), (३) नाम (नया नाम स्वीकार), (४) मंत्र और (५) याग (= पूजा)। भागवतों के दो मंत्र अत्यंत प्रसिद्ध हैं—द्वादशाक्षर (ॐ नमो भगवते वासुदेवाय) और अष्टाक्षर (ॐ नमो नारायणाय)।

१—देखिए फर्कुहरकृत ऐन आउट लाइन आव दि रिलिजस लिटरेचर इन इंडिया, पृष्ठ १८१।

२—एवं संसृतिचक्रस्थे भ्राग्यमाणे स्वकर्मभिः ॥ २८ ॥

जीवे दुःखाकुले विष्णोः कृपा काऽप्युपजायते।

सा ह्युक्ता पंचमी शक्तिर्विष्णुसंकल्परूपिणी ॥ २९ ॥

अनुग्रहात्मिका शक्तिः सा कृपा वैष्णवी परा।

शक्तिपाकः स वै विष्णोरागमोद्यैर्निगद्यते ॥ ३० ॥

समीक्षितस्तदा सोऽयं करुणावर्षरूपया।

कर्मसाम्यं भवत्येव जीवो विष्णुसमीक्षितः ॥ ३२ ॥

—अहिर्बुध्न्य संहिता, १४।

नागरीप्रचारिणी पत्रिका

विक्रम की सातवीं शती से लेकर दशवीं शती तक तामिल देश में ऐसे भक्त गायकों का प्रादुर्भाव हुआ जो भक्ति के उल्लास में एक मंदिर से दूसरे मंदिर तक भजन गाते फिरते थे। अपने इष्टदेव की मूर्ति का वियोग इनके लिये असह्य था। इन भक्तों में शैव और वैष्णव दोनों थे। वैष्णवों में दस आलवार संज्ञक अति प्रसिद्ध हैं। इनके भजनों में रामायण, महाभारत और पुराण का प्रभाव अधिक बताया जाता है और संहिताओं का बहुत कम। शैव भक्तों में से भी तीन बहुत प्रसिद्ध हैं; और लक्ष्य करने की बात यह है कि इनके भजनों पर भी आगमों का प्रभाव कम है। इससे यह अनुमान किया गया है कि तामिल देश में संहिताएँ और आगम दोनों ही बाद में पहुँचे। आलवार लोग अस्पृश्यों को भी उपदेश देते थे और कई तो अस्पृश्य कही जानेवाली जातियों में उत्पन्न भी हुए थे। वे ही लोग श्री-वैष्णव संप्रदाय के आदिगुरु माने जाते हैं। इनके भजनों की प्रामाणिकता स्वीकार की जाती है और मंदिरों में इनकी मूर्तियाँ पूजी जाती हैं। विक्रम की आठवीं शती के पूर्व कई आलवार भक्त हो चुके थे। परंतु इनके समय के विषय में अभी तक सर्वसंमत मत स्थिर नहीं हुआ है। विक्रम की आठवीं-नवीं शती के आसपास अष्टाक्षर मंत्र की प्रतिष्ठा हो चुकी थी और लगभग इसी समय की दो ऐसी उपनिषदें उपलब्ध हुई हैं जिनमें अष्टाक्षर मंत्र की महिमा बताई गई है। ये हैं 'नारायण' और 'आत्मबोध उपनिषद्'। आगे चलकर श्रीवैष्णवों में अष्टाक्षर मंत्र मान्य हुआ था।

दस अवतारों की कल्पना बहुत पुरानी है, शायद बुद्ध से भी पुरानी। यद्यपि दस अवतारों में बाद में बुद्ध का नाम भी आता है तथापि 'नारायणीयोपाख्यान' में जिन दस अवतारों के नाम हैं उनमें से प्रथम अवतार हंस है तथा नवाँ और दसवाँ सात्वत और कल्कि। इसमें बुद्ध का नाम नहीं है। इससे यह अनुमान किया जा सकता है कि अवतार की कल्पना बुद्ध से पूर्व की है। हमारे आलोच्य काल में 'नृसिंह पूर्व तापनीय' और 'नृसिंह उत्तर तापनीय' नामक दो उपनिषदों का प्रचार पाया जाता है। इनमें नृसिंह मंत्र की महिमा है। इससे यह अनुमान किया गया है कि नारसिंह मत उन दिनों प्रतिष्ठित हो चुका होगा। पंचदेवोपासकों में नृसिंह और वराह की पूजा प्रचलित थी। बाणभट्ट की 'कादंबरी' में नृसिंह की वंदना है और उस युग की अनेक वराहमूर्तियाँ पाई गई हैं। राम के अवतार को विशिष्ट उपास्य

१—हंसः कूर्मश्च मत्स्यश्च प्रादुर्भावो द्विजोत्तम

वाराहो नारसिंहश्च वामनो राम एव च।

रामो दाशरथिश्चैव सात्वतः कल्किरेव च ॥—शांतिपर्व ३३६, १००।

विक्रम की छठी से पंद्रहवीं शती तक की धर्म-साधना

८६

समझकर भी कोई संप्रदाय उन दिनों प्रतिष्ठित होना चाहिए। आलोच्य काल के पूर्वार्ध में 'राम पूर्व तापनीय' और 'राम उत्तर तापनीय' उपनिषदों का पता लगता है। 'अगस्त्य सुतीक्ष्ण संवाद' नामक इस काल की संहिता भी है जिसमें रामतत्त्व का बखान है। इस समय सूर्य और गणेश को प्रधान मानकर भी संप्रदाय अवश्य प्रतिष्ठित हुए होंगे। नेपाल में 'सौर संहिता' नामक पुस्तक की एक प्रति मिली है, जो संवत् ६६८ विक्रमी की लिखी हुई है। बाण के समकालीन कवि मयूर के 'सूर्यशतक' से भी पता चलता है कि सौर उपासना उन दिनों प्रचलित रही होगी। प्रसिद्ध जैन आचार्य मानतुंग के 'भक्तभर स्तोत्र' से भी सौर उपासना का पता चलता है। उड़ीसा के 'सांव पुराण' में सांव के द्वारा सूर्य-पूजा के लिये मग या शाकद्वीपीय ब्राह्मणों को ले आने की बात है। अग्नि और गरुड़ पुराणों में भी सूर्य की उपासना का उल्लेख है। इसी प्रकार 'गणपति तापनीय उपनिषद्' से गणपत्य संप्रदाय का भी अनुमान होता है। वैसे गणपति की पूजा इस देश में बहुत पहले से ही प्रतिष्ठित हो चुकी थी।

हमारे आलोच्य काल में शैवों का पाशुपत मत अधिक प्रबल था। हुएन्त्सांग ने अपने यात्रा विवरण में इस मत का बारह बार उल्लेख किया है। बाणभट्ट के ग्रंथों में पाशुपतों की चर्चा है और शंकराचार्य ने अपने 'शारीरक भाष्य' में (२, २, ३७) इस मत का खंडन किया है। 'लिंग पुराण' से पता चलता है कि उस समय पाशुपत मत की तीन शाखाएँ थीं—वैदिक, तांत्रिक और मिश्र। तांत्रिक पाशुपत लिंग से तप्त चिह्न और शूल धारण करते थे, वैदिक पाशुपत लिंग, रुद्राक्ष और भस्म धारण करते थे तथा मिश्र पाशुपत समान भाव से पंचदेवों की उपासना करते थे। 'वामन पुराण' (अध्याय ५) से शैव, पाशुपत, कालामुख और कपाली जाति के पाशुपतों का पता चलता है।

हमारे आलोच्य काल के पूर्वार्ध में लकुलीश के पाशुपत मत और कापालिक संप्रदायों का पता चलता है। गुजरात में लकुलीश पाशुपत मत का प्रादुर्भाव बहुत पहले हो चुका था, पर पंडितों का मत है कि उसके तत्त्व-

१—तान्त्रिकं वैदिकं मिश्रं त्रिधा पाशुपतं शुभम् ॥

तप्तलिंगांशूलादिधारणं तान्त्रिकं मतम् ।

लिंगरुद्राक्षभस्मादि धारणं वैदिकं भवेत् ॥

रवि शम्भुं तथा शक्तिं विघ्नेशं च जनार्दनम् ।

यजन्ति समभावेन मिश्रपाशुपतं हि तत् ॥

—श्रीकर भाष्य में उद्धृत

ज्ञान का विकास विक्रम की सातवीं-आठवीं शती में हुआ होगा। यह मत इस समय तक मध्य और दक्षिण भारत में फैल चुका था। वे लोग जीव मात्र को पशु कहते हैं, शिव पशुपति हैं। पशुपति ने बिना किसी कारण, साधन या सहायता के इस जगत् का निर्माण किया है। पशुपति ही समस्त कार्यों के कारण हैं। दुःखों से आत्यंतिक निवृत्ति और परमैश्वर्य की प्राप्ति—इन दो बातों पर इनका विश्वास था। कापालिक लोग वाममार्गी थे। संभवतः गृहस्थों में इनके सिद्धांतों का प्रचार नहीं था। भवभूति के 'मालती-माधव' में चामुंडापूजक अघोरघंट नामक कापालिक का वर्णन है। ये लोग मानव-बलि भी दिया करते थे।

अनुश्रुति के अनुसार शैवागमों की संख्या अष्टाईस है और उपागमों की एक सै सत्तर। कुछ पंडित आगमों के बनने का स्थान उत्तर भारत, विशेष कर कश्मीर बताते हैं। दक्षिण के शैव भक्तों की चर्चा हम ऊपर कर चुके हैं। जो तीन प्रसिद्ध शैव भक्त हो गए हैं उनके नाम हैं—मानसबंधर, अप्पर और सुंदरमूर्ति। प्रथम दो भक्त विक्रम की सातवीं शती के उत्तरार्ध में हुए और अंतिम आठवीं-नवीं शती में। यद्यपि इनके भजनों में आगमों की बात आ जाती है तथापि मूलरूप से वे 'महाभारत' और पुराणों से ही प्रभावित बताए जाते हैं। एक अत्यंत प्रभावशाली कवि भाणिकवाचकर हुए हैं (विक्रम की दसवीं शती) जो भाषा, भाव, तत्त्वज्ञान और काव्य-मर्म के उत्तम जानकार थे। इनके विषय में जो कुछ बातें नाना सूत्रों से हम जान सके हैं उनसे विदित होता है कि ये तामिल शैवों के तुलसीदास कहे जा सकते हैं। इनकी रचनाओं में आगमों का प्रचुर प्रभाव है। इस काल में शैवों की एक अत्यंत महत्त्वपूर्ण शाखा कश्मीर में थी। इस शाखा की तत्त्वविद्या पर आगमों का प्रभाव है। शाखा के दार्शनिक मत को प्रत्यभिज्ञा, त्रिक या स्पंद कहते हैं। शिव, शक्ति और अणु या पशु, पाश और पति—इन तीन-तीन का प्रतिपादन होने से इस मत को त्रिक कहते हैं। अनुश्रुति है कि शिव जी ने अपने शैवागमों की द्वैतपरक व्याख्या देखकर अद्वैत सिद्धांत के प्रचारार्थ इस मत को प्रकट किया और दुर्वासा ऋषि को इसे प्रचार करने का आदेश दिया। इस मत के मूल प्रवर्तक आचार्य वसुगुप्त विक्रम की आठवीं शती में हुए होंगे। कहते हैं कि 'शिवसूत्र' के सतहत्तर सूत्र महादेवगिरि की किसी शिला पर उत्कीर्ण थे। स्वप्न में शिव जी द्वारा आदेश पाकर वसुगुप्त ने उनका उद्धार किया था। इन्हीं सूत्रों के आधार पर उन्होंने अपनी 'स्पंदकारिका' की वाचन कारिकाएँ लिखीं। इनके दो शिष्य हुए कल्लट और सोमानंद। कल्लट ने त्रिकदर्शन का और सोमानंद ने प्रत्यभिज्ञा-दर्शन का प्रतिपादन किया। सोमानंद के शिष्य उत्पल थे और उनके प्रशिष्य

विक्रम की छठी से पंद्रहवीं शती तक की धर्म-साधना

६१

ये प्रसिद्ध अभिनवगुप्तपादाचार्य । कई पंडित इस परिणाम पर पहुँचे हैं कि शैवागमों में जितना अद्वैतमत है उससे भी अधिक इस प्रत्यभिज्ञामत में है ।

हम पहले ही लक्ष्य कर चुके हैं कि पूर्वी भारत में फैले हुए शाक्त मत के साथ इस काश्मीरी शैव मत का संबंध था । परंतु इसका मतलब यह नहीं है कि शक्तिपूजा शैव मत की इसी समय की निकली हुई एक शाखा है । कुछ विद्वानों ने इसी प्रकार समझाने की चेष्टा की है । यह संभव है कि शाक्त मार्ग शैव मार्ग की ही एक शाखा हो, परंतु यह अनुमान का ही विषय है । जो तथ्य हमें उपलब्ध हैं उनके आधार पर हम निश्चित रूप से कह सकते हैं कि हमारे आलोच्य काल में शाक्त मत शैव मत से अलग वैशिष्ट्य रखता था । 'कुब्जिकामत तंत्र' की एक प्राचीन प्रति गुप्तकालीन लिपि में लिखी हुई मिली है । इसका अर्थ यह हुआ कि 'कुब्जिकामत तंत्र' हमारे आलोच्य काल के पूर्व विद्यमान था । संवत् ६०१ का लिखित 'परमेश्वरमत तंत्र' और उसी समय का 'महाकुलांगनाविनिर्णय तंत्र' प्राप्त हुआ है । बाणभट्ट की पुस्तकों से शाक्त मत के पृथक् अस्तित्व का समर्थन होता है । शैव आगमों की ही भाँति इन शाक्त तंत्रों में अद्वैत स्वर ही प्रबल है । 'संमोहन तंत्र' (अध्याय ८) में स्पष्ट रूप से कहा गया है कि शक्ति और नारायण एक ही हैं । जो आदि नारायण हैं वे ही परम शिव हैं, वे ही निर्गुण ब्रह्म हैं । आद्या ललिता (महाशक्ति) ने ही श्रीकृष्ण और श्रीराम का पुरुष-विग्रह धारण किया था (अध्याय ६) और मूर्ख लोग ही राम और शिव में भेद देखते हैं । शैव और शाक्त दोनों ही छत्तीस तत्त्वों में विश्वास करते हैं । आगे चलकर शैवों में नाथ, कापालिक, रसेश्वर आदि कई संप्रदाय हुए, जिनका तत्त्वज्ञान थोड़ा बहुत भिन्न है परंतु सर्वत्र मूल स्वर अद्वैत प्रधान है । 'कौलावलिनिर्णय' (२१ अध्याय) में शैव-पद, विष्णुपद, हंसपद, निरंजनपद और निरालंबनपद को एक ही परम पद का नामांतर बताया गया है ।

'संमोहन तंत्र' में बाईस भिन्न भिन्न आगमों का उल्लेख है, जिनमें चीनागम, पाशुपत, पांचरात्र, कापालिक, भैरव, अघोर, जैन और बौद्ध आगमों की भी चर्चा है । उस समय ये सभी मत प्रचलित रहे होंगे । बौद्ध तंत्र की तो अनेक बातें प्रकाशित हुई हैं, पर जैन मत के तंत्र अभी तक प्रकाशित नहीं

१—एतस्याः परतः परात्परतरं निर्वाणशक्तः पदम् ।

शैवं शाश्वतमप्रमेयममलं नित्योदितं निष्क्रियम् ।

तद्विष्णोः पदमित्युशन्ति सुभियः केचित्पदं ब्रह्मणः ।

केचिदंसपदं निरञ्जनपदं केचिन्निरालम्बनम् ॥

—कौलावलिनिर्णय, पृष्ठ १४० ।

हुए हैं। हेमचंद्र के 'योगशास्त्र' आदि ग्रंथों से अनुमान किया जा सकता है कि हमारे आलोच्य काल में जैनमत में भी निश्चय ही तंत्रों का प्रचार रहा होगा।

हमारे आलोच्य काल के पूर्वार्ध की समाप्ति के आसपास ही परम शक्तिशाली 'भागवत पुराण' का अभ्युदय होता है। उत्तरकालीन धर्ममत और साहित्य को इस पुराण ने अधिक प्रभावित किया है। इस काल का दूसरा महत्त्वपूर्ण ग्रंथ 'श्रीभाष्य' है। इन दोनों ग्रंथों का प्रभाव उत्तरकालीन वैष्णव संप्रदायों पर बहुत अधिक पड़ा है। आगे चलकर 'पांचरात्र संहिताओं', 'विष्णुपुराण' और 'श्रीभाष्य' का आश्रय लेकर एक वैध मार्गी वैष्णव साधना विकसित हुई और दूसरी रागानुग मार्गी या आवेश और उल्लासमय भक्ति मार्गी साधना 'भागवत' का आश्रय लेकर विकसित हुई। उत्तरकाल के वल्लभ और चैतन्य संप्रदाय 'भागवत' को परम प्रमाण के रूप में स्वीकार करते हैं। 'भागवत पुराण' श्रीकृष्ण के प्रेममूलक भक्ति धर्म का प्रतिपादक है। इस पुराण के अनुसार श्रीकृष्ण साक्षात् भगवान् हैं और अन्य अवतार अंशकला मात्र हैं। भगवान् के दो रूप हैं—निरवच्छिन्न चैतन्य निराकार रूप और सत्तावच्छिन्न चैतन्य साकार रूप। आगे चलकर 'भागवत' और संहिताओं के इन दो उत्सों से चार वैष्णव संप्रदायों का प्रादुर्भाव हुआ। ये चार हैं—श्रीवैष्णव, ब्रह्म, रुद्र और सनक। श्रीवैष्णव मत के आचार्य रामानुज विशिष्टाद्वैतमत के, ब्रह्म संप्रदाय के आचार्य मध्व (आनंदतीर्थ) द्वैत के, रुद्र संप्रदाय के आचार्य विष्णुस्वामी और उनके अनुयायी वल्लभाचार्य शुद्धाद्वैत के और सनक संप्रदाय के आचार्य निंबार्क द्वैताद्वैतमत के प्रवर्तक हैं। चैतन्य संप्रदाय यद्यपि मध्वमत की ही शाखा है पर उसका अपना विशाल साहित्य है और उसके तत्त्ववाद का नाम अचिंत्य-भेदाभेदवाद है। इस उत्तरार्ध काल की विशेषता है संप्रदायों का प्रौढ़ संघटन। भारतवर्ष में शायद ही इतने संभवद्व रूप में संप्रदायों का कभी आविर्भाव इससे पहले हुआ हो।

दक्षिण में जब इस भक्तिमूलक वैष्णव धर्म का अभ्युदय हो रहा था तब उत्तर में एक शक्तिशाली योगमत का प्रादुर्भाव हुआ। उसकी कहानी कहे बिना हमारे आलोच्य काल का इतिहास अधूरा ही रह जायगा। आगे चलकर इस योगमार्ग का संबंध भक्तिमार्ग के साथ हुआ और कवीरदास के द्वारा दोनों के समन्वय से एक नवीन साधना मार्ग का प्रादुर्भाव हुआ। यह घटना हमारे आलोच्य काल के बाद की है। इसलिये यहाँ उसकी चर्चा नहीं की गई।

विक्रम की आठवीं शती के बाद नालंदा, विक्रमशिला, ओदंतपुरी आदि विद्यायतनों में जो बौद्ध धर्म प्रचलित हुआ वह नवीन ढंग का

विक्रम की छठी से पंद्रहवीं शती तक की धर्म-साधना

६३

तांत्रिक और योगक्रियामूलक धर्म था। इस नवीन तांत्रिक मत में तीन प्रधान मतों का संधान पाया गया है—सहजयान, वज्रयान और कालचक्र-यान। इन मतों की अधिकांश पुस्तकें अब तिब्बती भाषा में अनुवाद के रूप में ही सुरक्षित हैं। स्वर्गीय पं० हरप्रसाद शास्त्री ने 'चर्याचर्यविनिश्चय', 'दोहाकोष', 'अद्वयवज्रसंग्रह', 'गुह्यसमाज तंत्र' आदि पुस्तकें प्रकाशित की हैं। सहजयान और वज्रयान में बहुत कुछ समानता है। शास्त्री जी ने जो चर्या पद प्रकाशित कराए हैं उनमें आर्यदेव, भूसुक, कान्ह, सरह, लुई आदि आचार्यों के पद हैं, जिन्हें तिब्बती साहित्य में सिद्धाचार्य कहा गया है। ये आचार्यगण सहजावस्था की बात करते हैं। सहजावस्था को प्राप्त करने पर ही साधक अवधूत होता है। कान्ह सहजरूप पद्मवन में प्रवेश-कर मधुपान से मत्त होने की बात करते हैं और जोर देकर कहते हैं कि 'पंच स्कंधों या संस्कारों के नष्ट होने की कुछ चिंता मत करो यदि तुम्हारा चित्त 'सहज-शून्य' से परिपूर्ण हो गया हो तो।' इसी प्रकार भूसुकपाद सहजानंद लीला से ही मिलन का रहस्य समझ सकने की घोषणा करते हैं^३ और सरहपाद कहते हैं कि 'ऐ नाविक, चित्त स्थिर कर सहज के किनारे किनारे अपनी नैया खेए चल, रस्सी से खींचता चल, दूसरा उपाय नहीं है'। यह सहजावस्था बहुत कुछ वैसी ही है जैसी परवर्तीकाल के नाथपंथियों में प्रसिद्ध थी। ये लोग बाह्य अनुष्ठानों पर एकदम विश्वास नहीं करते थे, ब्राह्मण, याज्ञिक, त्रिदंडी, जटाधारी और क्षपणक आदि सभी का उपहास करते थे और किसी प्रकार की अर्चा-पूजा के विरोधी थे। इसीलिये सरहपाद ने

१—कान्ह विलसत्रा आसव माता ।

सहज नलिनिवन पइसि निवाता ॥—चर्या० ६-४

२—चित्र सहज-शून-संपुत्रा ।

कांध विओएँ मा होहि विसन्ना ॥—वही ४२-२

३—भूसुक भनह मइ बूझि अकेलें । सहजानंद महा सुख लीलें ॥—वही २७-१०

४—चीत्र थिर करि धरहु रे नाइ ।

आन उपाये पार ए जाइ ॥

नौवा ही नौका ठानअ गुणे ।

मेलि मेलि सहजे जाउ ए आणे ।—वही ३८-४-६

५—मोक्ख कि लब्धइ ज्झान पविट्ठा ।

किंतह किजइ किंतह णिवेजं ।

किंतह किजइ भंतह सेव्वं ॥

अपने चित्त को संबोधन करके कहा है कि 'ऐ मेरे चित्त, वहाँ चलकर विश्राम करो जहाँ सूर्य और चंद्र की भी गति नहीं, जहाँ मन और पवन भी संचरित नहीं होते, जहाँ आदि भी नहीं अंत भी नहीं, मध्य भी नहीं, जन्म भी नहीं, मरण भी नहीं, अपना भी नहीं, पराया भी नहीं, जो महासुख है, जो सहजावस्था है'।

नाथ पंथ के आदि प्रवर्त्तक आदिनाथ अर्थात् स्वयं शिव माने जाते हैं। मत्स्येंद्र इन्हीं के शिष्य बताए जाते हैं। इन्हीं मत्स्येंद्रनाथ के कई शिष्य बड़े पंडित और सिद्ध हुए, जिनके प्रभाव से यह मत सारे भारतवर्ष में प्रतिष्ठित हो गया। इन शिष्यों में सब से प्रधान गोरक्षनाथ या गोरखनाथ थे। सुप्रसिद्ध तिब्बती ऐतिहासिक तारानाथ (सिद्ध तारानाथ) का कथन है कि गोरखनाथ पहले बौद्ध थे और बाद में शैव हो गए थे। इसीलिये तिब्बत के लामा लोग गोरखनाथ को बड़ी घृणा की दृष्टि से देखते हैं। गोरखनाथ ने ही योग-मार्ग के अभिनव रूप हठयोग को प्रतिष्ठित कराया। प्रसिद्ध महा-राष्ट्र भक्त ज्ञाननाथ ने अपने को गोरखनाथ की शिष्य-परंपरा में बताया है। उनके कथनानुसार यह परंपरा इस प्रकार है—आदिनाथ, मत्स्येंद्रनाथ, गोरक्ष-नाथ, गाहिनी (गैनी) नाथ, निवृत्तिनाथ और ज्ञाननाथ। ज्ञाननाथ विक्रम की तेरहवीं शती में वर्तमान थे, इसलिये ग्यारहवीं-बारहवीं शती में हुए होंगे, ऐसा अनुमान है। इनके मत में योगी के चिह्न मुद्रा, नाद, विभूति और आदेश बताए गए हैं। मुद्रा का बड़ा माहात्म्य है। 'सिद्ध सिद्धांत-पद्धति' में कहा गया है कि 'मुद्' धातु मोदार्थक और 'रा' धातु दानार्थक है। ये दोनों जीवात्मा और परमात्मा के वाचक हैं। इन दोनों की एकता का विधान करनेवाली यह मुद्रा है जिसके दर्शन से देवगण प्रसन्न होते हैं और असुरगण भाग जाते हैं। यह साक्षात् कल्याणदायिनी है। इस मुद्रा को कान फाड़कर पहनाया जाता है। इसीलिये इस पवित्र मुद्रा के कारण लुरिका या लुरी भी महत्त्वपूर्ण हो जाती है। लुरिका की महिमा वर्णन करने के लिये लुरिको-पनिषद् रचित हुई है और उस उपनिषद् में बताया गया है कि लुरिका के एक बार के स्पर्श से मनुष्य योगी और जन्म-मरण के बंधन से मुक्त हो जाता है! नाद को ही अनाहत या श्रृंगी कहा गया है। आदेश आत्मा, परमात्मा

१—जहि मन पवन न संचरइ रवि शशि नाह पवेश ।

तहि वट चित्त विशाम कर सरहैं कहिअ उवेश ॥

आइ न अंत न मज्झ णउ, णउ भव णउ निव्वाण ।

एहु सो परम महासुह, णउ पर णउ अप्पाण ॥

२—गोरक्ष-सिद्धांत-संग्रह, पृष्ठ ६ ।

विक्रम की छठी से पंद्रहवीं शती तक की धर्म-साधना

६५

और जीवात्मा (?) इन तीनों की संभूति या मिलन को कहते हैं^१। इस प्रकार योगियों के सभी चिह्न वस्तुतः आध्यात्मिक वृत्तियों के प्रतीक मात्र हैं। नाथ-पंथी ग्रंथों में इस मार्ग के अवधूत की बड़ी महिमा गाई गई है। यह वर्णाश्रम से परे है, समस्त गुरुओं का साक्षात् गुरु है, इससे न कोई बड़ा है न इसके बराबर। यही नाथपद का अधिकारी है। इस अवधूत का परम पुरुषार्थ मुक्ति ही है, पर यह द्वैत और अद्वैत के द्वंद्व से अतीत है। 'अवधूत गीता' में कहा गया है कि कुछ लोग अद्वैत को चाहते हैं, कुछ लोग द्वैत को, पर इन दोनों से परे—द्वैताद्वैत-विलक्षण तत्त्व को कोई नहीं जानता। यह सम-तत्त्व कहलाता है। यदि सर्वगत देव स्थिर, पूर्ण और निरंतर हैं तो क्या द्वैताद्वैत-विकल्पना महा मोह नहीं है?^२

इस काल में शैवों के एक और संप्रदाय का पता माधवाचार्य के 'सर्वदर्शन-संग्रह' से चलता है (अध्याय ६)। यह रसेश्वर संप्रदाय था। ये लोग पारद के प्रयोग से शरीर के अमर होने पर विश्वास करते थे। शरीर के अमर हुए बिना सिद्धि दुःशक्य है। किंवदंतियों में ऐसे महायोगियों की बातें मिल जाया करती हैं जो पारद के प्रयोग से अमर हो गए थे। बहुत संभव है कि यह मत उत्तर भारत में ही अधिक प्रचलित रहा हो। दक्षिण भारत में उन दिनों वीर शैवों या लिंगायतों का प्राबल्य था। पाशुपतों में दो तरह के लिंगार्चक थे—एक साधारण और दूसरे लिंगधारी। लिंग धारण करनेवाले ही लिंगायत थे। ये लोग अपने मत को बहुत प्राचीन मानते हैं, परंतु कुछ पंडित वसव को ही इस मत का संस्थापक कहते हैं। वसव विक्रम की बारहवीं शती में विद्यमान थे। अन्याय पंडितों का कहना है कि वसव वस्तुतः सुधारक थे। जो हो, हमारे आलोच्य काल के उत्तरार्ध में दक्षिण, महाराष्ट्र और कर्णाटक में इस मत की प्रधानता थी।

परंतु हमारे आलोच्य काल के उत्तरार्ध की अत्यंत महत्त्वपूर्ण घटना भारतवर्ष में इसलाम का आगमन है, जो संघटित मजहब था। मजहब संघटित धर्ममत है। बहुत से लोग एक ही देवता को मानते हैं, एक ही आचार का पालन करते हैं, और किसी दल, कबीले या जाति के किसी व्यक्ति को

१—वही।

२—अद्वैतं केचिदिच्छन्ति द्वैतमिच्छन्ति चापरे।

समतत्त्वं न जानन्ति द्वैताद्वैतविलक्षणम्॥

यदि सर्वगतो देवः स्थिरः पूर्णो निरन्तरः।

अहो माया महामोहो द्वैताद्वैतविकल्पना॥

—गोरक्ष-सिद्धांत-संग्रह, पृष्ठ ११ में उद्धृत

जब एक बार अपने संघटित समूह में मिला लेते हैं तो उसकी सारी विशेषताएँ दूरकर उसी विशेष समूह के मतवाद को स्वीकर कराते हैं। यहाँ धर्म-साधना व्यक्तिगत नहीं समूहगत होती है तथा धार्मिक और सामाजिक विधि-निषेध एक दूसरे में गुँथे होते हैं। भारतीय समाज नाना जातियों का संमिश्रण था। एक जाति का एक व्यक्ति दूसरी जाति में संमिलित नहीं हो सकता, परंतु मजहब इससे ठीक उलटा है। वह व्यक्ति को समूह का अंग बना देता है। भारतीय समाज की जातियाँ कई व्यक्तियों का समूह हैं, परंतु किसी मजहब के व्यक्ति बृहत् समूह के अंग हैं। एक का व्यक्ति अलग अस्तित्व रखता है पर अलग नहीं हो सकता, दूसरे का अलग हो सकता है पर अलग सत्ता नहीं रखता। हमने अन्यत्र कहा है कि मुसलमानी धर्म एक 'मजहब' है। भारतीय समाज-संघटन से बिल्कुल उलटे तौर पर उसका संघटन हुआ था। भारतीय समाज जातिगत विशेषता के साथ ही व्यक्तिगत धर्म-साधना का पक्षपाती था, इसलाम जातिगत विशेषता का लोप कर समूहगत धर्म-साधना का प्रचारक था। एक का लक्ष्य चरित्र था, दूसरे का धर्म-मत। भारतीय समाज में यह तथ्य स्वीकृत था कि मत चाहे जो भी हो यदि चरित्र शुद्ध है तो व्यक्ति श्रेष्ठ हो जाता है, चाहे वह किसी भी जाति का क्यों न हो। मुसलमानी समाज का विश्वास था कि इसलाम ने जो धर्म-मत प्रचारित किया है उसको स्वीकार कर लेनेवाला ही अनंत स्वर्ग का अधिकारी है, जो इस धर्ममत को नहीं मानता वह अनंत नरक में जाने को बाध्य है। भारतवर्ष को ऐसे मत से पाला नहीं पड़ा था। उसने कभी यह सोचा ही नहीं था कि उसके आचार और मत को न माननेवाली जाति का कुफ्र तोड़ना उसका परम कर्तव्य है। यह कार्य किसी और का परम कर्तव्य हो सकता है, यह भी उसे नहीं मालूम था। इसीलिये जब नवीन धर्म-मत ने सारे संसार के कुफ्र को मिटा देने की प्रतिज्ञा की और इसके लिये प्राप्य साधनों का उपयोग आरंभ किया तब भारतवर्ष उसे ठीक ठीक समझ ही न सका। इसलिये कुछ दिनों तक उसकी समन्वयात्मिका बुद्धि कुंठित हो गई। वह बिबुब्ध सा हो गया। परंतु विधाता को यह कुंठा और विज्ञोभ पसंद नहीं था।

ऐसा जान पड़ता है कि पहली बार भारतीय मनीषियों को एक संघबद्ध धर्माचार के पालन की आवश्यकता जान पड़ी। इसलाम के आने के पहले इस विशाल जन-समूह का कोई एक नाम तक नहीं था। अब इसका नाम 'हिंदू' पड़ा। हिंदू अर्थात् भारतीय अर्थात् गैरइसलामी मत। निश्चय ही इस

१—देखिए श्रीहजारीप्रसाद द्विवेदी का 'कबीर', पृष्ठ १७५-६।

विक्रम की छठी से पंद्रहवीं शती तक की धर्म-साधना

६७

गैर-इसलामी मत में कई तरह के मत थे, कुछ ब्रह्मवादी थे, कुछ कर्मकांडी थे, कुछ शैव थे, कुछ वैष्णव थे, कुछ शाक्त थे, कुछ स्मार्त थे तथा और भी न जाने किस किस संप्रदाय के अनुयायी थे। हजारों योजनों तक विस्तृत और हजारों वर्षों में परिव्याप्त इस जनसमूह के विचारों और परंपराप्राप्त मतों का एक विशाल जंगल खड़ा था। स्मृति, पुराण, लोकाचार और कुलाचार की विशाल वनस्थली से रास्ता निकाल लेना बड़ा ही दुष्कर कार्य था। स्मार्त पंडितों ने इस दुष्कर व्यापार को शिरोधार्य किया। सारे देश में शास्त्रीय वचनों की छानबीन होने लगी। उद्देश्य था कि इस प्रकार का सर्व-संमत मत निकाल लिया जाय जिसको मानकर सारा देश एक ही दिन, एक ही समय व्रत-उपवास कर सके, श्राद्ध-विवाह की एक ही रीति-नीति प्रचलित हो सके, उत्सव-समारोह का एक ही विधान तैयार हो सके आदि। शास्त्रों को भारतीय मनीषा का आधार मानकर अपनी सबसे बड़ी समस्या के समाधान का यह सबसे बड़ा प्रयत्न था। हेमाद्रि से लेकर कमलाकर और रघुनंदन तक अनेक पंडितों ने बहुत परिश्रम के पश्चात् जो कुछ निर्णय किया वह यद्यपि सर्ववादिसंमत नहीं हुआ तथापि स्तूपीभूत शास्त्र-वाक्यों की छानबीन कर बहुत कुछ मिलता जुलता आचार-प्रवण धर्ममत अवश्य स्थिर हो गया निबंध-ग्रंथों की यह बहुत बड़ी देन थी। जिसे आजकल 'हिंदू-सालिडैरिटी' कहते हैं उसका प्रथम भित्ति-स्थापन इन निबंध-ग्रंथों के द्वारा ही हुआ था। पर इससे समस्या का समाधान नहीं हुआ।

इस प्रयत्न की सबसे बड़ी कमजोरी इसकी आचार-प्रवणता ही थी। भारतीय समाज को जो नया धर्ममत संतुब्ध कर रहा था वह इस आचार-प्रवणता का कोई महत्त्व ही नहीं स्वीकार करता था। उसका संघटन बिल्कुल उलटे ढंग से हुआ था। निबंध-ग्रंथों ने जिस आचार-प्रधान 'एक धर्म' मत का प्रचार किया उसके मूल में ही सबको स्वीकार करने का सिद्धांत निहित था। समस्त शास्त्रीय वाक्यों को नतशिर हो स्वीकार करके ही यह असाध्य-साधन किया गया था। पर जिस प्रतिद्वंद्वी से काम पड़ा था वह बहुत वर्जनाग्रही था अर्थात् वह निर्दयतापूर्वक अन्यान्य मतों को तहस-नहस करने की दीक्षा ले चुका था और धार्मिक वर्जनशीलता ही उसका मुख्य अस्त्र था। वह समाज धार्मिक रूप में वर्जनशील और सामाजिक रूप में ग्रहणशील था। हिंदू-समाज धार्मिक साधना को स्वीकार कर सकता था पर किसी व्यक्ति विशेष को धर्ममत में ग्रहण करने का पक्षपाती नहीं था। उधर मुसलमानी समाज व्यक्ति को अपने धर्ममत में शामिल कर लेने को परम पावन कर्तव्य समझता था, परंतु किसी विशेष धर्म-साधना को अपने किसी व्यक्ति के लिये एकदम वर्जनीय मानता था।

निबंध-ग्रंथों ने हिंदू को और भी अधिक हिंदू बना दिया, पर मुसलमानों को आत्मसात् करने का कोई रास्ता नहीं बताया।

इस प्रकार मुसलमानों के आगमन के साथ ही हिंदू-धर्म प्रधानतः आचार-प्रवण हो गया। तीर्थ, व्रत, उपवास और होमाचार की परंपरा ही उसका लक्ष्य हो गई। इस समय पूर्व और उत्तर में सबसे प्रधान संप्रदाय नाथपंथी योगियों का था। ये लोग शास्त्रीय स्मार्त मत को भी नहीं मानते थे और प्रस्थानत्रयी (अर्थात् उपनिषद्, ब्रह्मसूत्र और गीता) पर आधृत किसी दार्शनिक मतवाद के भी कायल नहीं थे। पर जनता का ध्यान इन्होंने आकृष्ट कर लिया था। विविध सिद्धियों के द्वारा ये काफी संमान के पात्र बन गए थे। ये गुणातीत शिव या निर्गुण तत्त्व के उपासक थे। पर इनकी उपासना ध्यान और समाधि के द्वारा होती थी। विविध भौति की शारीरिक साधनाओं के द्वारा, जिन्हें काया-साधन कहते थे, ये लोग परम तत्त्व को पाने के प्रयासी थे। इनमें से जो सिद्ध, साधक और अवधूत थे वे घरबारी नहीं होते थे पर इनके शिष्यों में बहुत से आश्रमभ्रष्ट गृहस्थ थे जो योगी-जाति का रूप धारण कर चुके थे। हिंदू-धर्म इन आश्रमभ्रष्ट योगियों का संमान नहीं करता था, इन्हें तिरस्कार की दृष्टि से ही देखता था। ये आश्रमभ्रष्ट गृहस्थ न तो हिंदू थे, क्योंकि ये हिंदुओं के किसी मत या आचार के कायल न थे, और न मुसलमान, क्योंकि इन्होंने इसलामी धर्ममत को स्वीकार नहीं किया था। कुछ काल के इसलामी संसर्ग के बाद ये लोग धीरे धीरे मुसलमानी धर्ममत की ओर झुकने लगे पर इनके संस्कार बहुत दिनों तक बने रहे। जब ये इस परिस्थिति में थे तब कबीर का आविर्भाव हुआ।

यहाँ और दो प्रधान धार्मिक आंदोलनों की चर्चा कर लेनी चाहिए। एक आंदोलन पश्चिम से आया। यह सूफियों की साधना थी। मजहबी मुसलमान हिंदू-धर्म के मर्म स्थान पर चोट नहीं कर पाए थे, वे केवल उसके बाहरी शरीर को विलुब्ध कर सके थे। पर सूफी भारतीय साधना के समर्थक थे। उनके उदारतापूर्ण प्रेम-मार्ग ने भारतीय जनता का चित्त आकृष्ट करना आरंभ किया था। फिर भी ये आचार-प्रधान भारतीय समाज को आकृष्ट नहीं कर सके। उनकी साधना का सामंजस्य आचार-प्रधान हिंदू-धर्म के साथ नहीं हो सका। यहाँ यह बात स्मरण रखने की है कि न तो सूफी-मतवाद और न योगमार्गी निर्गुण परम तत्त्व की साधना ही उस विपुल वैराग्य के भार को वहन कर सकी जो बौद्ध संघ के अनुकरण पर प्रतिष्ठित थी। देश में पहली बार वर्णाश्रम-व्यवस्था को एक अननुभूतपूर्व विकट परिस्थिति का सामना करना पड़ रहा था। अब तक वर्णाश्रम-व्यवस्था का कोई प्रतिद्वंद्वी नहीं था। आचार-भ्रष्ट व्यक्ति समाज से अलग कर दिए जाते थे

विक्रम की छठी से पंद्रहवीं शती तक की धर्म-साधना

६६

और वे एक नई जाति की रचना कर लेते थे। इस प्रकार सैकड़ों जातियों और उपजातियों के सृष्ट होते रहने पर भी वर्णाश्रम-व्यवस्था एक प्रकार से चलती ही जा रही थी। अब एक जवर्दस्त प्रतिद्वंद्वी समाज के सामने था जो प्रत्येक जाति को अंगीकार करने को बद्धपरिकर था। उसकी एक मात्र शर्त यह थी कि वह उसके विशेष प्रकार के धर्ममत को स्वीकार कर ले। समाज से दंड पानेवाला बहिष्कृत व्यक्ति अब असहाय नहीं था। इच्छा करते ही वह एक सुसंघटित समाज का सहारा पा सकता था।

ऐसे समय में दक्षिण से वेदांतभावित भक्ति का आगमन हुआ, जो इस विशाल भारतीय महाद्वीप के इस छोर से उस छोर तक फैल गई। डाक्टर प्रियर्सन ने कहा था कि 'विजली की चमक के समान अचानक इस समस्त (धार्मिक मतों के) अंधकार के ऊपर एक नई बात दिखाई दी। यह भक्ति का आंदोलन है।' इसने दो रूपों में आत्मप्रकाश किया—पौराणिक अवतारों को लक्ष्यकर सगुण उपासना के रूप में और निर्गुण परब्रह्म—जो योगियों का ध्येय था उसे लक्ष्यकर निर्गुण प्रेम-भक्ति की साधना के रूप में। पहली साधना ने हिंदू-जाति को बाह्याचार की शुष्कता को आंतरिक प्रेम से सींच कर रसमय बनाया और दूसरी साधना ने बाह्याचार की शुष्कता को ही दूर करने का प्रयत्न किया। एक ने समझौते का रास्ता लिया, दूसरी ने विद्रोह का, एक ने शास्त्र का सहारा लिया, दूसरी ने अनुभव का, एक ने श्रद्धा को पथ-प्रदर्शक माना, दूसरी ने ज्ञान को, एक ने सगुण भगवान् को अपनाया, दूसरी ने निर्गुण ब्रह्म को। पर प्रेम रूप दोनों का ही मार्ग था, सूखा ज्ञान दोनों को अप्रिय था, केवल बाह्याचार दोनों को संमत नहीं थे, आंतरिक प्रेम निवेदन दोनों को अभीष्ट था, अहैतुक भक्ति दोनों को काम्य थी, बिना शर्त के भगवान् के प्रति आत्मसमर्पण दोनों के प्रिय साधन थे। इन बातों में दोनों एक थे। सबसे बड़ा अंतर इनके लीला-संबंधी विचारों में था। दोनों ही भगवान् की प्रेम-लीला में विश्वास करते थे। दोनों का ही अनुभव था कि भगवान् लीला के लिये ही इस जगत् के प्रपंच को सँभाले हुए हैं। पर प्रधान भेद यह था कि सगुण भाव से भजन करनेवाले भक्त भगवान् को दूर से देखने में रस पाते रहे और निर्गुण भाव से भजन करनेवाले भक्त अपने आप में रसे हुए भगवान् को ही परम काम्य मानते थे।

इस प्रकार इस उत्तरार्ध काल के अंत में भक्ति-मार्ग ने दो रूपों में आत्मप्रकाश किया और मध्ययुगीन भारत को पूर्ण रूप से भक्त बना दिया। पुराणों, संहिताओं और आगमों की स्रोतस्विनियाँ इस महान् भक्ति-महाधारा में आकर गिरीं और सारा भारतीय समाज उसकी बाढ़ से प्लावित हो गया। हमारा आलोच्य काल यहीं समाप्त होता है।

अपभ्रंश भाषा और साहित्य

प्रो० हीरालाल जैन एम० ए०, एल-एल० बी०

[गतांक का शेष]

(२) अपभ्रंश भाषा का स्वरूप और भेद

१६ प्राकृत व्याकरणों में वररुचिकृत 'प्राकृतप्रकाश' प्राचीनतम माना जाता है। इसमें महाराष्ट्री, पैंशाची, मागधी और शौरसेनी इन चार भाषाओं का ही स्वरूप मिलता है। इसमें अपभ्रंश का कोई उल्लेख प्राप्त नहीं होता। चंडकृत 'प्राकृत लक्षण' ^१ में सामान्य प्राकृत एवं पैंशाची और शौरसेनी के अतिरिक्त अपभ्रंश का उल्लेख और स्वरूप देखने को मिलता है। इसमें अन्य प्राकृतों से अपभ्रंश की यह विशेषता बतलाई गई है कि उसमें अधोरेफ का लोप नहीं होता। इसके अतिरिक्त प्राकृत-सामान्य के नियमों और उदाहरणों में कुछ ऐसे लक्षण मिलते हैं जो केवल या बाहुल्य से अपभ्रंश में ही पाए जाते हैं। जैसे—अस्मद् के कर्ता कारक का रूप हउं (१, २८), षष्ठी विभक्ति ह (१, ५), भूतकालिक कृदंत का प्रत्यय णि इत्यादि। इसके पश्चात् हेमचंद्र का 'प्राकृतव्याकरण' आता है जो सर्वोपरि प्रमाण और परिपूर्ण माना जाता है। इसमें अपभ्रंश का स्वरूप विस्तारपूर्वक और प्रभूत उदाहरणों सहित देखने को मिलता है। परंतु अपभ्रंश भाषा के भेदों का उल्लेख इसमें भी नहीं पाया जाता। तो भी उन्होंने अपभ्रंश में जो रूप विकल्प से स्वीकार किए हैं और जो विभिन्न रूप उनके दिए हुए उदाहरणों से प्रकट होते हैं उन पर ध्यान देने से अपभ्रंश भाषा की विभिन्न धाराएँ स्पष्टतः दिखाई देती हैं। एक प्रवृत्ति जो सबसे अधिक हमारा ध्यान आकृष्ट करती है वह यह है कि

१—चंडकृत 'प्राकृतलक्षण' का एक संस्करण हार्नले का तैयार किया हुआ कलकत्ता से 'त्रिचलियोथिका इंडिका' में सन् १८८० में छपा था। किंतु इस संस्करण में पाठ की बहुत दुर्दशा की गई है, जिसके लिये देखिए श्री दलाल की लिखी हुई 'भविष्यत्-कहा' की भूमिका, पृष्ठ ६१ आदि (गायकवाड़ ओरियंटल सीरीज २०, सन् १९२३)। इसी संस्करण के सूत्रों का हिंदी-अनुवाद नागरीप्रचारिणी सभा से सन् १९०६ में 'आर्ष प्राकृतव्याकरण' के नाम से प्रकाशित किया गया, जिसकी भूमिका में बाबू जगन्मोहन वर्मा ने इसके चंडकृत होने में संदेह प्रकट किया है। प्राचीन प्रतियों के आधार पर इस ग्रंथ के पुनः संपादित किए जाने की बड़ी आवश्यकता है।

अपभ्रंश भाषा और साहित्य

१०१

कुछ शब्दों में 'ऋ' स्वर पाया जाता है (८, ४, ३६३), जैसे—गृहेप्पिणु = गृहीत्वा; और संयोगी रू का लोप तो केवल विकल्प से होता है (८, ४, ३६८), जैसे—प्रियेण, पिउ तथा कहीं कहीं तो मूल शब्द में न होते हुए भी वह जोड़ दिया जाता है (८, ४, ३६६), जैसे ब्रासु = व्यासः। संभवतः यही अपभ्रंश की वह धारा है जिसे चंड ने उस भाषा के विशेष लक्षण के रूप में उपस्थित किया है।

हेमचंद्र के अपभ्रंश में ध्यान देने योग्य दूसरी प्रवृत्ति यह है कि उसमें शब्द के अनादि में स्वर से परे असंयुक्त क, ख, त, थ, प और फ के स्थान पर क्रमशः ग, घ, द, ध, ब और भ का आदेश हो जाता है; जैसे—विच्छोहगरु = विक्षोभकरः, सुधि = सुखेन, कधिदु = कथितम्, सबुधु = शपथम्, सभलउ = सफलम् (८, ४, ३६६)। किंतु इसी सूत्र की टीका में यह भी कहा है कि यहाँ 'प्रायः' का अधिकार होने से कहीं उक्त प्रकार का आदेश नहीं भी होता। इसका सामान्यतः अर्थ तो यह होना चाहिए कि कहीं कहीं उक्त वर्ण बिना परिवर्तन के जैसे के तैसे रह जाते हैं; किंतु उदाहरणों द्वारा टीका का यह अभिप्राय प्रकट होता है कि उक्त वर्णों का सर्वथा लोप होकर केवल उनका संयोगी स्वर कहीं कहीं 'य' श्रुति के साथ शेष रह जाता है, जैसे—अकिआ = अकृता, पफुल्लियउ = प्रफुल्लितकः, कणिआरु = कर्णिकारः, पयासु = प्रकाशः, (८, ४, ३६६)। इस प्रकार यद्यपि शास्त्रकार ने मध्यवर्ती 'क' आदि वर्णों के सर्वथा लोप का क्वचित् रूप से विधान किया है तथापि उनके उदाहरणों से एवं उनके पूर्वापर कालवर्ती अधिकांश अपभ्रंश साहित्य के अवलोकन से पता चलता है कि बाद में लोप की यही प्रवृत्ति सबसे प्रबल होती गई।

१७ हेमचंद्र के पश्चात्कालीन वैयाकरणों, जैसे—क्रमदीश्वर, मार्कंडेय और राम तर्कवागीश ने अपभ्रंश के तीन भेद बतलाए हैं—ब्राचड, नागर और उपनागर। मार्कंडेय ने अपने 'प्राकृतसर्वस्व' में ब्राचड की जो प्रवृत्तियाँ बतलाई हैं उनमें से मुख्य हैं—(१) ऋ और रू की सत्ता, (२) चू और जू का य-पूर्वक उच्चारण, (३) ष और स के स्थान पर श तथा (४) त और द के स्थान पर ट और ड। नागर अपभ्रंश में भी ऋ और रू की सत्ता स्वीकार की गई है, किंतु वहाँ अनादि क और ख के स्थान में ग और घ एवं त और थ के स्थान में द और ध के आदेश का विधान है, तथा स्वार्थक डा, डी प्रत्यय जोड़ने की बहुलता का भी उल्लेख है। उपनागर में उक्त दोनों प्रवृत्तियों का मिश्रण पाया जाता था।

१—अनयोर्न साङ्ग्यं तदिष्टमुपनागरम्। (प्राकृतसर्वस्व १८, १२)।

§ ८ अपभ्रंश के एक प्राचीनतम कवि स्वयंभू के 'हरिवंश पुराण' में 'ढक्का भासा' में विरचित एक कडवक मिलता है। इसमें निम्नलिखित विशेषताएँ दिखाई देती हैं—(१) कर्ता कारक एकवचन की विभक्ति उ, (२) षष्ठी विभक्ति स्स, (३) अनादि त के स्थान पर द, (४) अन्य-पुरुष एकवचन के क्रिया रूप भवदि, संभवदि। इन विशेषताओं के कारण यह भाषा बंगाल के ढाका की तो नहीं किंतु पंजाब के ठक्क देश की प्रतीत होती है, क्योंकि इसमें मागधी के लक्षण दिखाई नहीं देते।

§ ९ उक्त समस्त उल्लेखों और विवेचनों का मथितार्थ यह है कि हिमालय से सिंध तक के तथा पंजाब और मारवाड़ आदि देशों में जो भाषा नाट्यशास्त्रकार के समय से लेकर अपभ्रंश के साहित्य में प्रविष्ट होने के समय तक अर्थात् पाँचवीं शताब्दी तक विशेष रूप से प्रचलित थी उसमें निम्नलिखित प्रवृत्तियाँ प्रबल थीं—

(१) ऋ स्वर का प्रयोग।

(२) रकारयुक्त संयुक्त व्यंजनों तथा अन्य व्यंजनों का प्रायः यथावत् प्रयोग।

(३) कर्ता और कर्म कारक की विभक्ति उ।

(४) षष्ठी की विभक्ति स्स।

(५) छंद में तुकबंदी की प्रधानता।

इस भाषा को हम आदिम ठक्की कह सकते हैं। इसी भाषा की जो प्रवृत्ति क्रमशः सिंध देश की ओर बढ़ी उसमें च और ज का उच्चारण कुछ अस्पष्ट होने लगा, जिससे उनके स्थान पर य के उच्चारण की प्रवृत्ति प्रारंभ हो गई। इस मध्यवर्ती उच्चारण के लिये कोई वर्ण विशेष न होने के कारण साहित्यिकों और वैयाकरणों ने इसे य्-पूर्वक च और ज के उच्चारण द्वारा प्रकट किया। इसके अतिरिक्त वे सब प्रवृत्तियाँ भी इसमें आ गईं जिनको हम ऊपर ब्राचड के स्वरूप में बता चुके हैं। इसमें मूर्धन्य उच्चारण की प्रबलता संभवतः सिंध में प्रचलित द्राविड़ भाषा के प्रभाव से उत्पन्न हुई।

§ १० ठक्की भाषा की दूसरी धारा गुजरात की ओर प्रवाहित हुई और अहमदाबाद जिले के नगर (बड़नगर) प्रदेश में विशेषतः प्रतिष्ठित हुई, जिससे उसका नाम नागरी प्रसिद्ध हुआ। नगर से ही नागर ब्राह्मणों की उत्पत्ति मानी जाती है। ये लोग संभवतः वल्लभी राजाओं के साथ उत्तर से आए थे। इनका निवास-स्थान पंजाब में नगरकोट (काँगड़ा जिला) रहा

१—देखिए अपभ्रंश-पाठावली (अहमदाबाद, सन् १९३४) उद्धरण ४, कडवक ११।

अपभ्रंश भाषा और साहित्य

१०३

होगा,^१ जो महाभारत के अनुसार आभीरों का पुराना क्रीड़ाक्षेत्र था^२। वल्लभी के राजा गुहसेन ने इसी नागर अपभ्रंश में काव्य-रचना की होगी। इसमें ठक्की भाषा द्वारा यह विशेषता उत्पन्न हुई कि परुष वर्णों को शौरसेनी प्राकृत की प्रवृत्ति के अनुसार मृदुल बनाया जाने लगा। स् विभक्ति के स्थान पर ह् होने लगा। संभवतः आभीरों के प्रसार के साथ यह प्रवृत्ति गुजरात में आई, इसीसे नमिसाधु ने इसे ही आभीरी कहा होगा। काव्य-रचना के लिये यह प्रवृत्ति अधिक अच्छी प्रतीत हुई और इसी से साहित्यिकों ने इसे शिष्ट माना। इसकी अपेक्षा ब्राह्मण अशिष्ट सी लगी, अतः वह ग्राम्य कहलाई। नगर के आसपास गुजरात से सिंध तक न्यूनाधिक रूप में दोनों प्रवृत्तियों का जिसमें मिश्रण पाया गया होगा वही उपनागर के नाम से प्रसिद्ध हुई। आश्चर्य नहीं कि नागर अपभ्रंश के लेखकों ने ही जिस लिपि को स्वीकार किया वही नागरी के नाम से प्रसिद्ध हुई।

§ ११ वर्णों को कोमल बनाने की प्रवृत्ति जहाँ एक बार प्रारम्भ हुई वहाँ धीरे धीरे वह बढ़ती ही गई जिससे अंत में हमें अपभ्रंश का वह रूप प्राप्त होता है जो उपलब्ध साहित्य में प्रचुरता से पाया जाता है। अपभ्रंश का वह स्वरूप संक्षेपतः इस प्रकार है—

(१) स्वरों में ऐ और औ का सर्वथा और ऋ का प्रायः अभाव, एवं स्वरों में परस्पर अनियमित व्यत्यय।

(२) मध्यवर्ती अल्पप्राण व्यंजनों का प्रायः लोप और केवल उनके संयोगी स्वरों का कहीं कहीं य अथवा व श्रुति के साथ या बिना इनके भी उच्चारण; तथा महाप्राण व्यंजनों के स्थान पर ह का आदेश।

(३) कारक-विभक्तियों की कमी। कर्ता और कर्म कारक के एक-वचन में उ, करण के एक वचन में एण के अतिरिक्त इण और एँ या ई तथा शेष कारकों में अनियमित रूप से ह, हि, हु, हे, हो विभक्तियों का सानुस्वार या अनुस्वार प्रयोग। अव्ययों में भी प्रायः उ का प्रयोग।

(४) सर्वनामों में विशेष उल्लेखनीय है उत्तमपुरुष एकवचन का हउं और मध्यम पुरुष तृतीया का पई।

(५) क्रियापदों में उल्लेखनीय है उत्तमपुरुष एकवचन की विभक्ति उं तथा अन्यपुरुष एकवचन की विभक्ति इ। विभक्ति से पूर्व क्रिया को अकारांत बना लेने की प्रवृत्ति।

१—देखिए डी० आर० भंडारकर का गुहिलोत (जे० ए० एस० बी०, सन् १९०६, पृष्ठ १६७, १८४) और आइ० ए०, सन् १९११, पृष्ठ ३३।

२—देखिए कीथ का हिस्ट्री आर्वा संस्कृत लिटरेचर, पृष्ठ ३३।

(६) कृदंत भूतकालिक अव्यय की विभक्तियाँ इय, इवि, एवि, एविणु, एप्पिणु और ऊण हैं।

(७) स्वार्थक और विशेषणात्मक प्रत्यय अल्ल, इल्ल, उल्ल, आल, इर, य (क), ड आदि का प्रयोग।

(८) ध्वनिसूचक नाना शब्दों का प्रयोग।

(३) अपभ्रंश और देशी भाषा

§ १२ साहित्यिक अपभ्रंश ने यह रूप हेमचंद्र से पहले ही अच्छी तरह प्राप्त कर लिया था, क्योंकि उनके दिए हुए उदाहरणों में यही रूप प्रचुरता से मिलता है और यही उनसे पूर्वकालीन उपलब्ध विपुल अपभ्रंश-साहित्य में पाया जाता है। इसी कारण संभवतः हेमचंद्र ने अपभ्रंश के वे भेद नहीं किए जो इस भाषा को दूर से पुरानी परंपरा और शास्त्र के चश्मे से देखने-वाले पीछे के प्राच्य वैयाकरणों ने किए हैं। फिर भी विकल्प से कहीं कहीं वे प्रवृत्तियाँ भी काव्य में प्रकट हो ही गई हैं, थोड़ी बहुत उनकी पुरानी परंपरा भी थी ही। अतः उन्होंने उन प्रवृत्तियों का निरूपण विकल्प रूप से अपने व्याकरण के नियमों में कर दिया और उनके उदाहरण भी दे दिए। इस प्रकार आरंभतः तो शास्त्रकारों ने संस्कृतबाह्य समस्त भाषा-प्रयोगों को अपभ्रंश ही कहा किंतु काव्य में वही भाषा अपभ्रंश के नाम से प्रसिद्ध हुई जिसका आदिम संबंध पंजाब की एक बोली से था। यह भाषा ज्यों ज्यों देश के अन्य भागों में फैली त्यों-त्यों इसकी काव्य-रचना में कुछ विशेषताएँ भी आती गई जिससे देशानुसार इसके भेद भी हुए। संभवतः इसी काव्य-रचना के आदर्श से दूसरे प्रदेशों में भी अपनी अपनी स्थानीय भाषा में काव्य-रचना की प्रवृत्ति उत्पन्न हुई। पर उन सब पर उक्त अपभ्रंश की छाप थी और इसीसे वे सब रचनाएँ अपभ्रंश ही कहलाई। जिस प्रकार भिन्न भिन्न प्रदेशों की प्राकृत में अपनी-अपनी विशेषताओं के कारण वे अपने-अपने प्रांतों के नाम से प्रसिद्ध थीं फिर भी उनकी भूमिका समान होने से शास्त्रकारों ने उन सबको प्राकृत ही कहा है उसी प्रकार भिन्न भिन्न देशी भाषाओं की रचना में अपनी अपनी विशेषताएँ रहते हुए भी एक समान धारा होने के कारण वे सब अपभ्रंश कहलाई। इस प्रकार बाण ने जिस ईशान नामक अपने साथी को भाषा-कवि कहा है उसकी कविता भी

१—भाषाकविरीशानः परं मित्रम् (हर्षचरित, उच्छ्वास १, काण्वेकृत संस्करण, ४४ ४१६)।

अपभ्रंश भाषा और साहित्य

१०५

अपभ्रंश कहलाती रही होगी, तभी तो पुष्पदंत को उस कवि का उल्लेख अपने 'महापुराण' की उत्थानिका में बाण के साथ करना पड़ा। यद्यपि यहाँ कवि ने विनयशीलता से अपने को देशी भाषा की जानकारी से रहित बतलाया है^२ तथापि 'णायकुमार चरित' के आदि में सरस्वती-वन्दना की ओट में उन्होंने जो लक्षण बतलाए हैं उनमें उन्होंने अपनी सरस्वती को निःशेष देशभाषाओं की बोलनेवाली कहा है^३ तैमैद्र ने 'बृहत्कथामंजरी' में गुणाढ्य के संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश इन तीनों भाषाओं के त्याग की बात कही है।^४ ठीक उसी प्रसंग में 'कथासरित्सागर' में संस्कृत, प्राकृत और देशी इन तीन भाषाओं के त्याग का उल्लेख किया है^५। इन उल्लेखों तथा अन्य अनेक अवतरणों से 'अपभ्रंश' और 'देशी' समानार्थक सिद्ध होते हैं^६।

(४) अपभ्रंश के विकास में कालक्रम

§ १३ डाक्टर हर्मन याकोबी का मत है कि ऋ और संयुक्त र् का प्रयोग अपभ्रंश में अपेक्षाकृत प्राचीनता का बोधक है^७। डाक्टर आदिनाथ उपाध्ये ने इस मत का खंडन किया है और यह मत स्थापित किया है कि अशोक के काल से १५वीं. १६वीं शताब्दी तक की भाषाओं के जो उदाहरण हमें

१—णालोइउ कइ ईसाणु बाणु (महापुराण, १, ६, ५)।

२—णउ हउं होमि वियक्खणु, ण भुणमि लक्खणु, छंडु देसि ण वियाणमि (महापुराण १, ८, ६)।

३—णीसेस देसभासउ चवंति । लक्खणइं विसिद्धइं दक्खवंति (१, १, ६)।

४—ज्ञात्वा देवीप्रसादेन त्यक्तभाषात्रयोऽप्यहम् ।

पैशाचिनमपभ्रंश-संस्कृत-प्राकृतां श्रितः ॥ (१, ३, ५१)

५—संस्कृतं प्राकृतं तद्वद्देशीभाषा च सर्वदा ।

भाषात्रयमिदं त्यक्तं यन्मनुष्येषु संभवेत् ॥ (१, ६, १४८)

६—देशी भाषा और अपभ्रंश के एकता-संबंधी अन्य उल्लेखों के लिये देखिए मेरे द्वारा संपादित 'पाहुड दोहा' की भूमिका, पृष्ठ ३३ आदि। इस मत का डाक्टर कीथ द्वारा उल्लिखित मत से कुछ भेद है। (देखिए हिस्ट्री ऑफ् संस्कृत लिटरेचर, पृष्ठ ३२-३३) किंतु डाक्टर कीथ ने 'पाहुड दोहा' की भूमिका पढ़कर मुझे लिखा था—'आइ नोट योर मिउ अबाउट देशी भाषा हिच सीम्स प्लाजिबुल।'।

७—देखिए डाक्टर याकोबी की सनत्कुमारचरित की भूमिका (जर्मनी, सन् १६२१)।

मिलते हैं उनसे उक्त प्रकार की प्रवृत्तियाँ कालबोधक नहीं किंतु देशभेदक सिद्ध होती हैं^१। यह बात सत्य है कि केवल उक्त प्रयोगों को देखकर रचना के समय का निर्णय करना बहुत अप्रामाणिक सिद्ध होगा, तथापि कुछ प्रवृत्तियाँ ऐसी हैं जिनके आधार पर भारतीय आर्यभाषा के मध्यकालीन स्वरूप के काल-विभाग किए जा सकते हैं। डाक्टर सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या ने बतलाया है कि मध्यवर्ती क और त का पहले ग और द में रूपांतर हुआ और फिर उनके सर्वथा लोप होने से पूर्व एक ऐसी अवस्था आई जब उनका अस्पष्ट उच्चारण किया जाता था। इस अस्पष्ट उच्चारण का काल उन्होंने स्थूलतः ईसवी पूर्व २०० से ईसवी सन् २०० तक का निर्धारित किया है^२। भरत ने अपने 'नाट्यशास्त्र' में प्राकृत का स्वरूप बतलाते हुए त के स्थान पर द का यही अस्पष्ट उच्चारण प्रमाणित किया है^३। जिन श्लोकों का पाठ बहुत भ्रष्ट रूप में प्राप्त होता है उनमें त, द के लोप का भी विधान अनुमित किया जा सकता है^४। अतएव वे उक्त काल के अंतिम सीमावर्ती प्रतीत होते हैं। इसके अनुसार उनका काल ईसवी सन् २०० के लगभग सिद्ध होता है। भरत ने अपभ्रंश का उल्लेख न करते हुए भी पश्चिमोत्तर प्रदेशों में उकारबहुला भाषा का प्रयोग बतलाया है, अतएव अपभ्रंश का यह साहित्य से पूर्व का काल स्वीकार किया जा सकता है। डाक्टर सुनीतिकुमार जी ने भी ओ विभक्ति का निर्वल होकर अपभ्रंश की उ विभक्ति में परिवर्तित होने का काल ईसा की तीसरी शताब्दी अनुमित किया है^५। यदि कालिदास के 'विक्रमोर्वशीय' नाटक में उपलब्ध अपभ्रंश के पद्य कालिदास की कृति मान लिए जायें तो ईसवी सन् ४०० के लगभग अपभ्रंश में अच्छी रचना होने लगी थी, यह सिद्ध हो जाता है^६। छठी शताब्दी में अपभ्रंश-काव्य संस्कृत और प्राकृत-काव्य की बराबरी में आ बैठा था, इसमें

१—देखिए डाक्टर उपाध्ये की परमात्मप्रकाश की भूमिका (बंबई, सन् १९३७, पृष्ठ ५५)।

२—देखिए इंडो-आर्यन ऐंड हिंदी, पृष्ठ ८४-८५।

३—अस्पष्टश्च दकारो भवति अनादौ तकार इत्याद्ये। (१८, ११)।

४—वही १८, ६-८।

५—इंडो-आर्यन ऐंड हिंदी, पृष्ठ ९६।

६—इन पद्यों को कालिदासकृत मानने में आपत्ति के लिये देखिए विक्रमोर्वशीय (बंबई, सन् १९०१) की एस० पी० पंडित द्वारा लिखी भूमिका। इन आपत्तियों के निराकरण के लिये देखिए डा० उपाध्ये की परमात्मप्रकाश (बंबई, सन् १९३७) की भूमिका, पृष्ठ ५६।

अपभ्रंश भाषा और साहित्य

१०७

तो कुछ संदेह है ही नहीं। अब हम आगे यह देखेंगे कि अपभ्रंश-साहित्य ने यहाँ से चलकर कितनी समृद्धि प्राप्त की।

(५) संस्कृत नाटकों में अपभ्रंश

§ १४ अश्वघोष के 'सारीपुत्र-प्रकरण' (द्वितीय शताब्दी) नाटक में 'मकटहो' रूप आया है, जो 'मर्कटस्य' का अपभ्रंश रूप अनुमित किया जा सकता है। भास के 'पंचरात्र' (चौथी शताब्दी) में ग्वालों की बातचीत में जिस मागधी का प्रयोग हुआ है उसमें अपभ्रंश का विशेष लक्षण कर्ता और कर्म कारक की विभक्ति उ भी मिलती है। जैसे—पदमंडलु पुर्यो = शतमंडलः सूर्यः। षव्वं घोषु विद्वन्ति चोळा = सर्व घोषं विद्वन्ति चौराः। इन पाठों के संबंध में विद्वान् जो संशय करते हैं उसका मुख्य कारण है अपभ्रंश रूपों को इतना पुराना मानने में उनकी हिचकिचाहट। किंतु इस भाषा का जो इतिहास हमने ऊपर देखा उससे इन रूपों का उक्त नाटकों में प्रयुक्त होना आश्चर्यजनक नहीं है। 'मुद्राराक्षस' (लगभग ४०० ईसवी) के दूसरे अंक में माथुर जो बोली बोलता है वह मागधी होते हुए भी उकार-बहुला होने से मागधी अपभ्रंश कही जा सकती है। माथुर मथुरा की तरफ से आया हुआ व्यक्ति होना चाहिए जिसने अपनी पश्चिमी बोली की छाप प्राच्य बोली पर लगा दी होगी। टीकाकारों ने उसे ढकी कहा है, पर शुद्ध नाम ठकी ही प्रतीत होता है^१। मार्कंडेय ने इस भाषा को टाकी कहा है और उन्होंने यह भी प्रकट किया है कि 'हरिश्चंद्र इस भाषा को अपभ्रंश मानते हैं और अपभ्रंश को विद्वान् नाटकादि में प्रयुक्त करते हैं'^२। कालिदास के 'विक्रमोर्वशीय' नाटक (लगभग ४०० ईसवी) के चौथे अंक में सोलह पद्य पूरे के पूरे अपभ्रंश में हैं और इस भाषा के ललित काव्य के उदाहरण कहे जा सकते हैं। अब कोई कारण नहीं है कि इन्हें कालिदासकृत न माना जाय।

(६) अपभ्रंश का दोहा-साहित्य

§ १५ अपभ्रंश भाषा में सबसे प्राचीन काव्य-रचना दोहा छंद के द्वारा हुई जान पड़ती है। हेमचंद्र और अन्य वैयाकरणों ने जो उदाहरण

१—देखिए कीथकृत संस्कृत ड्रामा, पृष्ठ ८६, १४१, १६६।

२—हरिश्चन्द्रास्त्रिमां भाषामपभ्रंश इतीच्छति।

अपभ्रंशो हि विद्वद्भिर्नाटकादौ प्रयुज्यते ॥ (प्राकृतसर्वस्व, १६, २)।

दिए हैं वे अधिकतर दोहों के ही हैं। ऊपर निर्दिष्ट नियमों के अनुसार भाषा की जो प्रवृत्तियाँ अपेक्षाकृत पुरानी हैं वे दोहों में ही प्रचुरता से पाई जाती हैं। प्राचीन उपलब्ध अपभ्रंश-काव्य में दोहा-साहित्य सबसे अधिक देशव्यापी, भाषाभेद, प्रचुर एवं व्याकरण के नियमों से सबसे कम बँधा मिलता है। यही एक ऐसा छंद है जो उत्तर भारत की प्रायः सभी आधुनिक भाषाओं द्वारा पूर्णतः अपनाया गया है। दोहा छंद में दो प्रकार की रचनाएँ पाई जाती हैं—एक भावात्मक मुक्तक पद्य, जो शृंगार, करुण, वीर आदि रसों से पूर्ण रचनाएँ हैं। ये रचनाएँ प्रधानतया भाटों द्वारा रचित प्रतीत होती हैं। इनके स्फुट उदाहरण प्रचुरतः हेमचंद्र के व्याकरण में मिलते हैं। दूसरे प्रकार की रचनाएँ संतों द्वारा प्रस्तुत हुई हैं, जिनमें प्रायः अध्यात्म-चिंतन और धार्मिक उपदेश की प्रधानता है। जैन-संप्रदाय में इस प्रकार की रचनाएँ ये हैं—जोशुदुकृत 'परमपयासु' और 'योगसार' ^२ (छठी शताब्दी); रामसिंह मुनिकृत 'पाहुड दोहा' ^३ (दसवीं शताब्दी); देवसेनकृत 'सावयधम्म दोहा' ^४ (दसवीं शताब्दी) और सुप्रभाचार्यकृत 'वैराग्यसार' ^५। देवसेनकृत 'प्राकृत नयचक्र' में कहा गया है कि देवसेन ने अपना ग्रंथ पहले दोहा छंद में रचा था। किंतु उसे देखकर किसी शुभंकर महाशय ने हँस दिया और कहा कि यह अर्थ दोहा छंद में शोभा नहीं देता, इसे गाथाबद्ध करना चाहिए। अतएव माइल्लधवल ने इसे गाथा छंद में रचकर प्रसिद्ध किया, ^६

१—संस्कृत टीकासहित इनका एक संग्रह दोषकवृत्ति के नाम से छपा है (अहमदाबाद, सन् १९१६)। नागरीप्रचारिणी पत्रिका, भाग २, संवत् १९७८ में पं० चंद्रधर शर्मा गुलेरी की 'पुरानी हिंदी' शीर्षक लेखमाला में भी ये दोहे तथा अपभ्रंश की अन्य रचनाएँ सानुवाद प्रकाशित हो चुकी हैं। हेमचंद्र का पूरा प्राकृत व्याकरण पूना से सन् १९२८ में और कुमारपालचरित के साथ सन् १९३६ में प्रकाशित हुआ है। दोनों के संपादक डाक्टर पी० एल० वैद्य हैं।

२—रामचंद्र जैन शास्त्रमाला, संपादक डाक्टर उपाध्ये, बंबई, सन् १९३७।

३—कारंजा जैन सीरीज, संपादक श्री हीरालाल जैन, अमरावती, सन् १९३३।

४— " " " " " " " " सन् १९३२।

५—डाक्टर वेलणकर द्वारा एनल्स आव् भंडारकर ओरियंटल रिसर्च इंस्टिट्यूट में संपादित।

६—सुणिऊण दोहरत्तं सिग्घं हसिऊण सुहं करो भणह ।

एय्य ण सोहह अत्थो गाहाबंघेण तं भणह ॥ ३१८ ॥

दव्वसहावपयासं दोहयबंघेण आसि जं दित्ठं ।

तं गाहाबंघेण रइयं माइल्लधवलेण ॥ ४२२ ॥

(नयचक्र संग्रह, मा० दि० जै० ग्रं० १६, बंबई, सन् १९२०)

अपभ्रंश भाषा और साहित्य

१०६

और देवसेन की दोहाबद्ध वह रचना नष्ट हो गई। इससे जान पड़ता है कि उस समय दोहा छंद को पंडित-वर्ग ने नहीं अपनाया था और वे इसे गंभीर विषय की ग्रंथ-रचना के लिये अनुपयुक्त समझते थे। देवसेन का रचना-काल विक्रम संवत् ६६० अथवा इसके आसपास निश्चित है।

§ १६ बौद्धों के सिद्ध-संप्रदाय में बहुत सी दोहा-प्रधान अपभ्रंश रचनाएँ हुईं। इनकी भाषा को पुराने लोगों ने 'संध्या भाषा' कहा है। इनका सबसे पहला संग्रह श्री हरप्रसाद शास्त्री ने 'दोहाकोष' के नाम से संकलित किया था। पर उन्होंने इनकी भाषा के सच्चे स्वरूप की कोई पहचान नहीं की थी। अब तिल्लोपाद, सरहपाद, कण्हपाद आदि सिद्धों की कुछ रचनाएँ प्रकाशित हुई हैं।^१ इनका विषय निर्गुणवाद या रहस्यवाद कहा जा सकता है। इनमें अनेक दोहे ऐसे हैं जो पूर्वोक्त जैन दोहों से प्रायः अन्तरशः मिलते हैं। रहस्यवाद की विचारधारा इस संत-संप्रदाय में जैन, बौद्ध आदि संप्रदायों का बाँध तोड़कर एक हो गई थी। इनमें वही विचार-स्रोत पाया जाता है जिसका प्रवाह हमें हिंदी में कबीर की रचना में प्रचुरता से मिलता है। बौद्धों के उक्त सिद्धों का काल आठवीं से बारहवीं शताब्दी तक का है^२।

(७) अपभ्रंश के खंडकाव्य

§ १७ अपभ्रंश साहित्य की दूसरी शाखा खंडकाव्यों की है, जिनमें भावना, स्तुति, संलाप, छोटे आख्यान तथा कथानक पाए जाते हैं। ऐसे कुछ संदर्भ हमें सोमप्रभकृत 'कुमारपाल प्रतिबोध' (संवत् १२४१) में प्राप्त होते हैं^३। चार संदर्भों का सुंदर संपादन और प्रकाशन भी हो चुका है। ये संदर्भ हैं—'जीवमनःकरणसंलाप कथा', 'स्थूलभद्र कथा', 'द्वादश भावना स्वरूप' और 'स्फुट पद्य' (सुभाषित)। इनमें से प्रथम संदर्भ बहुत सुंदर है। इसकी विशेषता यह है कि यह छोटा सा रूपक काव्य है। देह नामक नगर

१—डाक्टर एम० शहीदुल्ला के 'ले शॉत मिस्तिक' (पेरिस, सन् १९२८) में कण्ह और सरह के दोहे तिब्बती पाठसहित छपे हैं। प्रबोधचंद्र बागची के दोहाकोष (कलकत्ता विश्वविद्यालय, सन् १९३८) में तिल्लोपाद, सरह, कण्ह के तथा संकीर्ण दोहे संगृहीत हैं। डाक्टर शहीदुल्ला ने कनूपा के बत्तीस दोहे बंगाली अनुवादसहित प्रस्तुत किए हैं। (साहित्य-परिषद् पत्रिका, ४६-१)।

२—अनेक सिद्धों के उल्लेख और अवतरणों के लिये देखिए राहुल सांकृत्यायन-कृत पुरातत्त्व-निबंधावली। (इंडियन प्रेस, प्रयाग, सन् १९३७)।

३—लुडविग आल्सडार्फ का देर कुमारपाल प्रतिबोध (हेमबर्ग, जर्मनी सन् १९२८)।

नागरीप्रचारिणी पत्रिका

११०

है, जिसमें आयुर्कर्म का प्राकार खिचा हुआ है। वहाँ सुख, दुःख, लुधा, तृषा हर्ष, शोक आदि बहुत से लोग निवास करते हैं। आत्माराम इस नगर के राजा हैं, जिनकी पट्टरानी हैं बुद्धि देवी। उनके प्रधान मंत्री मन हैं, जिनके नीचे पाँच प्रधान कर्मचारी—स्पर्शनादि—पाँच इंद्रियाँ हैं। एक बार मन और आत्मा में अर्थात् मंत्री और राजा में संवाद छिड़ जाता है। मन जीव की निष्फलता बतलाते हैं, जिसके लिये ही सारा अन्याय और बखेड़ा संसार में खड़ा है। वे पाँचों कर्माध्यक्षों की परस्पर निरंकुशता और अहंमन्यता की भी शिकायत करते हैं। राजा अपने विविध अनुभवों को सुनाकर और उन सबमें समन्वय स्थापित करने का मंत्र बतलाकर संवाद समाप्त करते हैं।

१) १८ अपभ्रंश की बहुत सी स्फुट रचनाएँ 'प्राचीन गुर्जर-काव्य-संग्रह',^१ 'अपभ्रंश काव्यत्रयी',^२ एवं 'ऐतिहासिक जैन-काव्य-संग्रह'^३ में प्रकाशित हुई हैं। 'प्राचीन गुर्जर-काव्य-संग्रह' में चौदह पद्यात्मक रचनाओं के अतिरिक्त सात रचनाएँ गद्यात्मक भी हैं, जो तेरहवीं, चौदहवीं शताब्दी की हैं। इनके द्वारा हिंदी और गुजराती के विकास के विषय में बहुत सी बातें ज्ञात होती हैं। गद्य के विकास की जानकारी के लिये और भी विशेष महत्त्वपूर्ण संग्रह है—'प्राचीन गुजराती गद्य-संदर्भ',^४ जिसमें चौदहवीं और पंद्रहवीं शताब्दी की लगभग सौ छोटी-बड़ी जैन कथाएँ, धर्मोपदेश आदि संगृहीत हैं। इनमें से कुलमंडन सूरिकृत 'औक्तिक प्रकरण' (संवत् १४५० वि०) तो बड़ा ही महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि इसमें भाषा का व्याकरण और कोष दिया है, जिसमें विभक्ति-विचार, कृदंत-विचार, उक्ति-भेद, शब्द-संग्रह आदि का निरूपण उसी भाषा में किया गया है। यह भाषा-शास्त्र का अनुपम ग्रंथ है।

१) १९ रङ्गकृत 'दहलक्षणा-जयमाला' (पंद्रहवीं शताब्दी) जैनियों

१—गायकवाड़ ओरियंटल सीरीज, बड़ौदा, संख्या १३, सन् १९२०, संपादक श्री दलाल।

२—वही, संख्या ३७, सन् १९२०, संपादक श्री भट्टाचार्य।

३—संपादक श्री अग्रचंद नाहटा और श्री भँवरलाल नाहटा (कलकत्ता, संवत् १९६४)।

४—संपादक श्री जिनविजय (गुजरात विद्यापीठ, अहमदाबाद, संवत् १९८६)।

५—दशलाक्षणिक धर्म-जयमाला (जैन ग्रंथरत्नाकर कार्यालय, बंबई, सन् १९२३)।

अपभ्रंश भाषा और साहित्य

१११

के धार्मिक पठन-पाठन में चलनेवाली रचना है। इसमें उत्तम क्षमा, मार्दव, आर्जव, सत्य, शौच, संयम, तप, त्याग, आर्किचन और ब्रह्मचर्य इन दश धर्मों का स्वरूप अच्छी तरह समझाया गया है। इन्हीं के 'सोलह कारण-जयमाल'^१ में दर्शन-विशुद्धि, विनय-संपन्नता, शीलव्रतों में अनतिचार आदि सोलह साधनाओं का विवरण दिया गया है, जिनके अभ्यास से जीव अपने को तीर्थकर होने का अधिकारी बना सकता है।

§ २० विनयचंद्रकृत 'चूनड़ी' ग्रंथ^२ इकतीस पद्यों का उपदेशात्मक काव्य है। स्त्रियों में चूनड़ी छपवा कर पहनने और ओढ़ने की रुचि होती है। कवि ने धार्मिक भावनाओं और आचरणों की चूनड़ी रँगकर पहनने-ओढ़ने का उपदेश दिया है। कवि के गुरु का नाम बालचंद्र मुनि है। जिस गुटके से यह रचना प्राप्त हुई है वह संवत् १५७६ विक्रमी, ज्येष्ठ कृष्ण प्रतिपदा को सिकंदरशाह के पुत्र सुलतान इब्राहीम के राज्यकाल में लिखा गया था। अतएव ग्रंथ की रचना इससे पूर्व हुई होगी। उसी गुटके में इन्हीं कवि की 'कल्याण रास' भी है जो अभी तक अप्रकाशित है। इन्हीं विनयचंद्र जी की 'णिज्जर पंचमी विहाण कहाणक'^३ नाम की एक और रचना अट्टानवे पद्यों में है। इसमें सुंदर गीति छंद में एक बाल-विधवा की करुण कहानी और धार्मिक दृढ़ता का वर्णन है।

§ २१ आसाधारण महत्त्व की एक अपभ्रंश रचना है 'सनेह रासय'^४ (संदेश रासक), जिसके कर्ता अहहमान (अब्दुल रहमान) हैं। इनके पिता का नाम मीरसेन था। ये पश्चिमोत्तरवर्ती म्लेच्छ देश (संभवतः सुलतान) के रहनेवाले जुलाहे थे। यह २१६ पद्यों का खंडकाव्य है, जिसमें 'मेघदूत' के आदर्श पर एक विरहिणी अपने प्रवासी पति को एक पथिक के द्वारा प्रेम-संदेश भेजती है। इस काव्य पर एक संस्कृत अवचूरि भी उपलब्ध है। मूल और टीका दोनों का रचनाकाल अज्ञात है।

§ २२ उपर्युक्त पद्यात्मक रचनाएँ अपभ्रंश गीति काव्य के थोड़े से सुंदर उदाहरण हैं। इसमें कोई संदेह नहीं कि इनके सैकड़ों गीत किसी समय लोकप्रिय रहे होंगे। विशेषता यह है कि इन गीतों का विषय प्रायः शृंगार नहीं, भक्ति है, प्रिय-प्रेयसी-चितन नहीं, महापुरुष-कीर्ति-स्मरण है।

१—प्राकृत षोडशकारण-जयमाला (जैन साहित्य मंदिर, सागर, संवत् १६८३)।

२—श्री दीपचंद्र पंड्या लिखित चूनड़ी ग्रंथ (अनेकांत, वर्ष ५, भाग ६-७)।

३—अप्रकाशित (लेखक के पास संग्रहीत)।

४—डा० एस० एम० कत्रे का मुस्लिम कांटीन्यूशन टु अपभ्रंश लिटरेचर (दि कर्नाटक हिस्टोरिकल रिव्यू, वाल्यूम ४, जनवरी-जुलाई, सन् १९३७, पृष्ठ १५-२४)।

ये गीत भिन्न-भिन्न सरस राग-रागिनियों का रसास्वादन कराने के साथ ही मन को परमार्थ और सदाचार में लिप्त करनेवाले हैं। इनकी एक और बड़ी विशेषता यह है कि बहुत से गीतों और स्तुतियों के आधारभूत व्यक्ति और घटनाएँ ऐतिहासिक हैं।

(८) अपभ्रंश के महाकाव्य

§ २३ अपभ्रंश साहित्य के सबसे पुष्ट अंग हैं—पुराण और चरित ग्रंथ। इनमें उपर्युक्त दोहा-साहित्य और गीति खंडकाव्यों की अपेक्षा कुछ अधिक विशेषताएँ भी मिलती हैं। इनकी भाषा मँजी हुई और टकसाली है। इनकी रचना का आधार-माप कडवक है, जिसमें सामान्यतः पञ्चमटिका या अलिल्लह छंद के साथ अंत में एक घत्ता छंद रहता है। कहीं कहीं कडवक के आदि में एक दुवई छंद भी रखा जाता है। यही शैली हिंदी में चौपाई-दोहे की रचना-शैली की उत्पादिका है। ऐसे लगभग दस-पंद्रह कडवकों का एक अध्याय होता है जिसे संधि कहते हैं। संधि के आदि में कहीं कहीं एक ध्रुवक छंद रहता है। वर्ण्य विषय और भाव के अनुसार बीच बीच में छंदों में प्रचुर परिवर्तन भी होते हैं। काव्य के गुण, अलंकार और रीति संबंधी वे सभी लक्षण इनमें मिलते हैं जो संस्कृत महाकाव्यों में पाए जाते हैं।

§ २४ प्रश्न हो सकता है कि अपभ्रंश में इस शैली का प्रारंभ कब से हुआ। छंदों का ऐतिहासिक अन्वेषण अभी तक नहीं हुआ; फिर भी उक्त शैली के संबंध में हमें कुछ बहुमूल्य बातें ज्ञात हैं। अपभ्रंश के जितने पुराण और चरित ग्रंथ हमें अभी तक उपलब्ध हुए हैं उनमें स्वयंभूक्त 'पउम चरित' और 'हरिवंश पुराण' सबसे प्राचीन सिद्ध होते हैं। 'हरिवंश पुराण' की उत्थानिका में कवि ने अपने पूर्ववर्ती शास्त्रकारों और कवियों के प्रति कृतज्ञता प्रकट करते हुए कहा है कि 'मुझे इंद्र ने व्याकरण, भरत ने रस, व्यास ने विस्तरण, पिंगल ने छंद, भामह और दंडी ने अलंकार, बाण ने वनघनाता हुआ अक्षराडंबर, श्रीहर्ष ने नैपुण्य एवं चतुर्मुख ने दुवई और ध्रुवकों से जड़ा हुआ पद्धडिया छंद समर्पित किया।' यह कहना तो कठिन है कि पद्धडिया छंद का आविष्कार चतुर्मुख ने ही किया होगा, पर उक्त उल्लेख से इतना तो निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि स्वयंभू के मतानुसार चतुर्मुख ही पद्धडिया छंद का ध्रुवक और दुवई के साथ मेल मिलाकर कडवक रूप से काव्य-रचना करनेवाले आद्य कवि थे।

§ २५ चतुर्मुख ने किन काव्यों की रचना की, इसका भी हमें कुछ उल्लेख मिलता है। स्वयंभूक्त 'पउम चरित' की जो प्राचीन प्रति मुझे देखने

अपभ्रंश भाषा और साहित्य

११३

को मिली थी उसके आदि और अंत में स्वयंभू के पुत्र त्रिभुवन स्वयंभू के बनाए हुए चौबीस ऐसे प्राकृत पद्य मिले जिनमें अपभ्रंश साहित्य का बहुत कुछ प्राचीन इतिहास पाया जाता है। इन पद्यों द्वारा जान पड़ता है कि चतुर्मुखदेव ने 'महाभारत' की पूरी या खंड रूप से रचना की थी, जिसमें 'गोप्रहण कथा' इतनी सुंदर वर्णित हुई कि उसकी बराबरी कोई कवि नहीं कर पाया। इसके अतिरिक्त चतुर्मुख और स्वयंभूदेव के 'पंचमी चरित' के वर्णन का भी उल्लेख है। उसमें चतुर्मुख के शब्द-सौंदर्य की बड़ी प्रशंसा की गई है। चतुर्मुख के अतिरिक्त त्रिभुवन स्वयंभू ने दो अन्य कवियों का उल्लेख किया है जो स्वयंभू से पूर्व हो चुके थे। इनमें से एक थे दंती और दूसरे थे भद्र। दंती के शब्दों का अर्थ बड़ा मनोहर होता है और भद्र के गोप्रहण और मत्स्यभेद वर्णन को आज भी कोई कवि नहीं पा सकता। स्वयंभू के काव्य में शब्द और अर्थ दोनों के सौष्ठव की प्रशंसा की गई है और उनका जल-क्रीड़ा वर्णन अद्वितीय कहा गया है। दुर्भाग्य से हमें चतुर्मुख, दंती और भद्र का कोई काव्य अभी तक प्राप्त नहीं हो पाया; किंतु स्वयंभू की दो पूर्वोक्त बड़ी बड़ी रचनाएँ मिल चुकी हैं। त्रिभुवन स्वयंभू ने उन्हें 'शब्दरूपी विकट डाढ़ों, छंद और अलंकाररूप नखों और व्याकरणरूप प्रचुर केशोंवाला पंचानन कहा है।' इससे प्रतीत होता है कि स्वयंभू ने कोष, छंद और व्याकरण के ग्रंथ भी लिखे थे। उनका छंद-ग्रंथ तो मिल गया है और प्रकाशित भी हुआ है। इसमें चतुर्मुख का उल्लेख है और उनके पाँच पद्य भी उदाहरण-स्वरूप उद्धृत पाए जाते हैं, जिनसे चतुर्मुख द्वारा 'महाभारत' काव्य रचे जाने में कोई संदेह नहीं रह जाता। त्रिभुवन स्वयंभू ने एक गाथा में स्वयंभूकृत अपभ्रंश व्याकरण का भी स्पष्ट उल्लेख किया है, जिसमें वे कहते हैं—'यह अपभ्रंशरूपी मत्त मातंग तब तक स्वच्छंदता से भ्रमण करता है जब तक स्वयंभू का व्याकरणरूपी अंकुश इस पर नहीं आ पड़ता।' संभवतः इसी व्याकरण ने पीछे की अपभ्रंश काव्य-रचना को पूर्णतः परिमार्जित कर दिया। इस व्याकरण ग्रंथ की खोज अवश्य होनी चाहिए।

१—स्वयंभूच्छंदस्—संपादक-एच० डी० वेलणकर (जर्नल आर्वा बांबे ब्रांच रायल एशियाटिक सोसायटी, वाल्यूम २, सन् १९३५)।

२—स्वयंभू और उनके काव्यों तथा चतुर्मुखादि कवियों के संबंध में ऊपर जितनी बातें कही गई हैं उनके आधारभूत अवतरणों एवं उनपर कुछ अधिक विस्तार से विचार के लिये देखिए प्रो० हीरालाल लिखित 'स्वयंभू एंड हिज टू पोयम्स इन अपभ्रंश' (नागपुर यूनिवर्सिटी जर्नल, नं० १, सन् १९३५)। इसमें मैंने स्वयंभू का

॥ २६ स्वयंभू के पश्चात् अपभ्रंश के जो महाकवि हमारे संमुख आते हैं वे हैं पुष्पदंत, जिनकी काव्य-प्रतिभा उनकी 'वागीश्वरी देवी निकेत' और 'काव्यपिसल्ल' जैसी उपाधियों से ही प्रकट है। 'जसहर चरित', 'णाय-कुमार चरित' और 'महापुराण' नामक इनके तीनों उपलब्ध ग्रंथ सुसंपादित होकर प्रकाशित हो चुके हैं। इन काव्यों में भाषा और छंदों का वैचित्र्य, शब्द और अर्थ का सामंजस्य और भावानुकूलत्व, वर्णन का सौष्ठव, रस का परिपाक एवं अलंकारों की उत्तम छटा आदि गुण प्रचुरता से प्राप्त होते हैं। कवि के पिता का नाम केशव भट्ट और माता का नाम मुग्धा देवी था, जो पहले शिव-भक्त थे किंतु पीछे गुरु के उपदेश से जैन हो गए और जैन-संन्यास विधि से जिन्होंने शरीर-त्याग भी किया। पुष्पदंत पहले किसी राजा के आश्रय में रहते थे और वहाँ उन्होंने काव्य-रचना भी की थी, किंतु पश्चात् रुष्ट तथा खिन्न हो दुर्गम और दीर्घ मार्ग की यात्रा कर क्षीणकाय मान्यखेट में पहुँचे। वहाँ राष्ट्रकूट नरेश कृष्णराज (तृतीय) के मंत्री भरत के आश्रय में उन्होंने 'महा पुराण' की रचना शक संवत् ८८७ में समाप्त की। भरत के पुत्र णण के आश्रय में उन्होंने अपने शेष दो काव्यों की रचना की। 'शिवसिंह-सरोज' के कर्ता ने हिंदी के जिन आदि कवि पुष्प का उल्लेख किया है, क्या आश्चर्य कि वे पुष्पदंत थे ही हों ?

॥ २७ मुनि कनकामरकृत 'करकंड चरित' दस संधियों का सुंदर और अपेक्षाकृत सरल अपभ्रंश काव्य है। इसमें उन करकंडू राजा का चरित वर्णन किया गया है जो बौद्धों और जैनों दोनों में प्रत्येक बुद्ध माने गए हैं। प्रसंगवश इसमें धाराशिव की गुफाओं का सुंदर वर्णन भी है और शिलाहार वंशी राजाओं के इतिहास के विषय में भी इससे कुछ ज्ञान प्राप्त होता है। कवि द्विज वंशी, चंद्र ऋषि गोत्रीय थे। वे वैराग्योदय के कारण

काल सन् ७०० और ७८३ के बीच निश्चित किया है। अधिक परिचय के लिये देखिए पंडित नाथूराम प्रेमी का 'महाकवि स्वयंभू और त्रिभुवन स्वयंभू' (अनेकांत, वर्ष ५, कि० ८-६)

१- जसहर चरित—डा० पी० एल० वैद्य द्वारा संपादित (कारंजा जैन सीरीज १, सन् १९३१) ; णायकुमार चरित—प्रो० हीरालाल जैन द्वारा संपादित (देवेंद्रकीर्ति जैन सीरीज १, सन् १९३३) ; महापुराण—डा० पी० एल० वैद्य द्वारा संपादित ; तीन जिल्दों में (माणिकचंद्र दिगंबर जैन ग्रंथमाला संख्या ३७, सन् १९३७; संख्या ४१, सन् १९४०; संख्या ४२, सन् १९४१) । उक्त ग्रंथों की भूमिकाओं में कवि का सविस्तर परिचय दिया गया है। णायकुमार चरित की भूमिका में काव्य का व्याकरण और छंद-विश्लेषण तथा परिशिष्ट में पूरा कोश दिया गया है।

दिगंबर हो गए। उनके गुरु का नाम बुधमंगलदेव था। उन्होंने काव्य-रचना 'आसाइय' नगरी में पहुँचकर की थी। संभव है यह वही नगरी हो जो हैदराबाद के औरंगाबाद जिले में है, जहाँ सन् १८०३ में मराठों और अंगरेजों में युद्ध हुआ था। कवि के आश्रयदाता जिन विजयपाल, भूपाल और कर्ण के मंत्री थे उनके उल्लेखों से अनुमान होता है कि यह नगर कहीं मध्यप्रांत या मध्यभारत में रहा होगा। आश्चर्य नहीं कि भोपाल के पास की आसापुरी ही वह नगरी रही हो जहाँ इस ग्रंथ की रचना हुई। दमोह, बाँदा और जबलपुर जिलों से जो भिन्न भिन्न शिलालेख मिले हैं उनमें उक्त राजाओं के नाम पाए जाते हैं। इन लेखों का काल उनकी लिखावट के आधार पर ग्यारहवीं बारहवीं शताब्दी अनुमित किया जाता है। संभवतः यही समय हमारे कवि का भी रहा होगा।

१२८ धनपालकृत 'भविष्यत्तकहा' बाईस संधियों में पूरी हुई है। इसमें एक सेठ के पुत्र भविष्यदत्त का चरित वर्णित है। उसने अपने विमातृभ्राता के द्वेष के कारण बहुत दुःख सहा; किंतु अंत में अपने धैर्य और पराक्रम द्वारा सब विपत्तियों को जीत कर वह आधि कुरु राज्य का अधिकारी बन गया। कवि के पिता का नाम महेश्वर और माता का नाम धनश्री था। वे धक्कड़ वंश के थे। जैनों की धाकड़ जाति आज भी राजपूताना, गुजरात और वरार में पाई जाती है। इस वंश के अन्य अनेक कवियों की भी अपभ्रंश रचनाएँ मिलती हैं। कवि के काल-निर्णय के लिये अभी तक विशेष आधार उपलब्ध नहीं हो सके हैं। डा० याकोबी ने इसका रचना-काल दसवीं शताब्दी अनुमित किया है।

१२९ हरिभद्रकृत 'णेमिणाह चरित' एक विशिष्ट रचना है, क्योंकि इसकी रचना रट्टा छंद में हुई है। काव्य उत्कृष्ट और साथ ही कुछ क्लिष्ट भी है। इसका अभी तक केवल एक अंश 'सणकुमार चरित' प्रकाशित हो पाया है, जिसमें ४४३ से लेकर ७८५ तक अर्थात्

१—करकंड चरित—प्रो० हीरालाल जैन द्वारा संपादित (कारंजा जैन सीरीज ४, सन् १९३४); पूर्ण अंगरेजी अनुवाद और शब्दकोशसहित।

२—इस ग्रंथ के दो संस्करण प्रकाशित हो चुके हैं, एक डा० हर्मन याकोबी द्वारा संपादित होकर जर्मन भूमिका और अनुवादसहित (जर्मनी, सन् १९१८) और दूसरा श्री सी० डी० दयाल द्वारा संपादित होकर गायकवाड़ ओरियंटल सीरीज संख्या २२ में (बड़ौदा, सन् १९२३)। इनकी भूमिकाओं में अपभ्रंश भाषा आदि के विषय में अच्छा विचार किया गया है।

३४३ रड्डा छंद हैं। कवि के गुरु का नाम चंद्र सूरि था। उन्होंने अपनी रचना संवत् १२१६ वि० में पूरी की थी।

§ ३० विद्यापति की 'कीर्तिलता' (चौदहवीं शताब्दी) ऐसी रचना है जो कई दृष्टियों से विशेषतासंपन्न है। एक तो यह उपर्युक्त समस्त चरित ग्रंथों से पीछे की रचना है, दूसरे इसकी रचना मिथिला में हुई है; अतः इसमें तत्कालीन मैथिल अपभ्रंश का स्वरूप मिलता है, जो भाषा की दृष्टि से बहुत विकसित और आधुनिक भाषाओं के स्वरूप के बहुत निकटवर्ती है। तीसरे इसमें गद्य और पद्य दोनों का उपयोग किया गया है, और पद्य में दोहा एवं रड्डा के अतिरिक्त अन्य छंदों का भी प्रयोग है। ग्रंथ का विभाग संधियों में न होकर ग्रंथ के नामानुरूप पल्लवों में है, एवं काव्य-वस्तु भृंग और भृंगी के संवाद द्वारा प्रस्तुत की गई है। चौथे इसका कथानक पौराणिक नहीं, ऐतिहासिक है, क्योंकि इसमें जौनपुर के नवाब इब्राहीम शाह के समकालीन कीर्तिसिंह के चरित का वर्णन है, जिनके प्रपौत्र राजा शिवसिंह की विद्यापति से बहुत मित्रता थी। पाँचवीं विशेषता यह है कि यह रचना बौद्ध या जैन संप्रदाय के कवि की न होकर हिंदू संप्रदाय के कवि की है। ज्ञात अपभ्रंश साहित्य में हिंदुओं की रचनाएँ ऐसी इनी गिनी रचनाओं को छोड़कर प्रायः नहीं के बराबर हैं; पर जैसे राजशेखर ने प्राकृत को संस्कृत से अधिक सुकुमार स्वीकार कर अपना सट्टक सर्वथा प्राकृत में लिखा वैसे ही विद्यापति ने भी हिंदू समाज में अपभ्रंश के प्रति अपने समाज की उपेक्षा दूर करने का प्रयत्न किया और यह बतलाया कि 'संस्कृत बहुतों को भाती नहीं, प्राकृत रस के मर्म को नहीं पाती, पर 'देसिल वयना' सबको मीठे लगते हैं, अतः उसी के अनुसार मैं अवहट्ठा (अपभ्रष्टा = अपभ्रंश) में रचना करता हूँ। दुर्भाग्य से यह जागरण तब आया जब अपभ्रंश का भी वार्धक्य आ गया था और उसकी पुत्रियाँ कार्य-भार संभालने में समर्थ हो चली थीं।

(६) अप्रकाशित अपभ्रंश-काव्य

§ ३१ उपर्युक्त काव्यों के अतिरिक्त अपभ्रंश भाषा के ऐसे बहुत से काव्य हैं जिनका पता चला है और जिनका परिचय भी पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित हो चुका है, किंतु जो अभी अप्रकाशित हैं। जैसे—धवल कविकृत 'हरिवंस

१—सनत्कुमारचरितम्—संपादक—डा० हर्मन याकोबी (जर्मनी, सन् १९२१), जर्मन अनुवाद और भूमिकासहित।

२—कीर्तिलता—संपादक—बाबूराम सक्सेना (नागरीप्रचारिणी सभा, काशी, संवत् १९८६)।

अपभ्रंश भाषा और साहित्य

११७.

पुराण' (लगभग दशवीं शताब्दी) १२२ संधियों में पूरा हुआ है । कवि सूर ब्राह्मण और केसुल्ला के पुत्र थे । उन्होंने अंबसेन गुरु के व्याख्यानानुसार चतुर्मुख, व्यास एवं जिनसेन की रचनाओं के आधार पर ग्रंथ लिखा । उत्थानिका में उन्होंने अपने पूर्ववती अनेक कवियों और उनकी रचनाओं का उल्लेख किया है ।

हरिषेणकृत 'धम्मपरिक्खा' ^२ (संवत् १०४४ वि०) ग्यारह संधियों में है । कवि मेवाड़निवासी धक्कड़ वंश के गोवर्धन और गुणवती के पुत्र थे । वे चित्तौड़ छोड़कर अचलपुर आए और वहीं उन्होंने ग्रंथ की रचना की । उन्होंने अपने से पूर्ववर्ती जयरामकृत गाथावद्ध एक और 'धर्मपरीक्षा' का उल्लेख किया है । उसी को उन्होंने पद्धडिया रूप में प्रस्तुत किया है । उन्होंने अपने पूर्ववर्ती चतुर्मुख, स्वयंभू और पुष्पदंत का भी प्रशंसात्मक उल्लेख किया है । इस रचना द्वारा हमें अमितगति की संस्कृत 'धर्मपरीक्षा' (संवत् १०७० वि०) से पूर्व के दो और तद्विषयक ग्रंथों का पता चल गया ।

श्रीचंद्रकृत 'कथाकोश' ^३ (दशवीं-ग्यारहवीं शताब्दी) की तिरपन संधियों में धार्मिक कथाएँ संगृहीत हैं । प्रशस्ति से ज्ञात होता है कि इसे कवि ने अणहिल्लपुर के प्राग्वाट वंशी सज्जन के पुत्र और मूलराज नरेश के गोष्ठिक कृष्ण के लिये बनाया था ।

नयनंदिकृत 'सुदंसण चरित' ^४ (संवत् ११०० वि०) की बारह संधियों में एक धर्मिष्ठ सेठ सुदर्शन का चरित वर्णित है । कवि ने अपनी गुरुपरंपरा इस प्रकार दी है—कुंदकुंदान्वय, पद्मनंदि, विशाखनंदि, रामनंदि, माणिक्यनंदि और नयनंदि ।

पद्मकीर्ति ने अपने 'पास पुराण' (शक संवत् ६६६) की अठारह संधियों में बाईसवें तीर्थंकर पार्श्वनाथ का चरित वर्णन किया है । कवि ने अपनी गुरुपरंपरा इस प्रकार दी है—सेनसंघ, चंद्रसेन, माधवसेन, जिनसेन और पद्मकीर्ति ।

सिंह कवि ने अपनी 'पञ्जुएणकहा' (संभवतः बारहवीं शताब्दी) की पंद्रह संधियों में कृष्ण के पुत्र प्रद्युम्नकुमार का चरित वर्णन किया है ।

१—देखिए प्रो० हीरालाल जैन का अपभ्रंश लिटरेचर (अलाहाबाद यूनिवर्सिटी जर्नल, १, सन् १९२५), और महाकवि धवल और उनका हरिवंश पुराण (वीर, ४-२, सन् १९२५) तथा केटेलग आवू संस्कृत एंड प्राकृत मैनेस्क्रिप्ट्स इन सी० पी० एंड वेरार (नागपुर, सन् १९२६) ।

२—देखिए डा० आदिनाथ नेमिनाथ उपाध्ये का हरिषेण धर्मपरीक्षा इन अपभ्रंश (एनल्स आवू भंडारकर ओरियंटल रिसर्च इंस्टिट्यूट, वाल्यूम २३, सन् १९४२) ।

३—देखिए पादटिप्पणी संख्या ६७ । ४—देखिए वही, संख्या ६६ । ५—देखिए वही ।

ग्रंथ की रचना बम्हनवाड़ (सिरोही राज्य, जोधपुर स्टेट के वामनवाड़) में हुई थी। इसकी प्रथम आठ-दस संधियाँ पंपाइय और देवण के पुत्र कवि सिद्ध की बनाई हुई हैं। संभवतः बाद में उनकी मृत्यु हो जाने के कारण शेष काव्य की पूर्ति रत्नहण के शिष्य और गुर्जर कुल के बुध रत्नहण और जिनमती के पुत्र सिंह ने की थी। कवि ने अपने समय के रणधोरिय वल्लाल का उल्लेख किया है, जिनके भृत्य भुल्लण पुत्र बम्हनवाड़े में नियुक्त थे।

श्रीधर कवि का 'सुकुमाल चरित' (संवत् १२०८ वि०) छह संधियों में पूरा हुआ है। ग्रंथ की रचना वलड (अहमदाबाद, गुजरात) नगर में राजा गोविंदचंद्र के समय में हुई थी। कवि के उत्साह को बढ़ानेवाले एक पौरवाड़ वंश का वर्णन भी पुस्तक में आया है।

अमरकीर्तिगणि का 'छक्कम्मोवएस' (संवत् १२४७ वि०) चौदह संधियों में है। उसमें देव-पूजा, गुरु-उपासना, स्वाध्याय, संयम, तप और दान इन छह नित्यकर्मों का दृष्टान्तरूप कथा कहानियों सहित सुंदर उपदेश है। ग्रंथ की रचना गुजरात के महीकाँठा प्रदेश के गोहहय (गोध्रा) नगर में हुई थी। कवि नागरवंशी चर्चिणी और गुणपाल नामक माता-पिता के पुत्र थे। वे माथुर संघ में मुनि हो गए थे, जिसकी परंपरा उन्होंने अमृत-गति से लेकर वर्णित की है। अपने भ्राता अंबाप्रसाद की प्रेरणा से उन्होंने काव्य-रचना की। उन्होंने अपनी सात अन्य रचनाओं का भी उल्लेख किया है जिनमें से 'णेमिणाह चरित', 'महावीर चरित' और 'जसहर चरित' अपभ्रंश-काव्य ही प्रतीत होते हैं। अभी इनका भी पता लगाना शेष है।

लक्ष्मण कवि का 'अणुवयरयणपईउ' (संवत् १३१३ वि०) आठ संधियों में पूरा हुआ है, जिनमें गृहस्थों के योग्य दया, दानादि गुणों के स्वरूप और प्रभाव सुंदर कथानकों द्वारा समझाए गए हैं। इस ग्रंथ की रचना आगरा प्रांत में हुई थी, जब यमुना तट के चंद्रवाड नगर (फीरोजा-

१—देखिए प्रो० हीरालाल जैन का सम रीसेंट फाइंड्स आव् अपभ्रंश लिटरेचर (नागपुर यूनिवर्सिटी जर्नल, नं० ४, सन् १९४२)।

२—देखिए पादटिप्पणी संख्या ७२ तथा श्री देसाई का कुमारपालना समयनुं एक अपभ्रंश काव्य (आत्मानंद शताब्दी स्मारक ग्रंथ, बंबई, सन् १९३६)।

३—देखिए पादटिप्पणी संख्या ७२ तथा प्रो० हीरालाल जैन का अमर-कीर्तिगणि और उनका षट्कर्मोपदेश (जैन-सिद्धांत-भास्कर, भाग २, संवत् १९६२, पृष्ठ ८०-६२ तथा पृष्ठ १२०-१३१)।

४—देखिए पादटिप्पणी संख्या ७२ तथा प्रो० हीरालाल जैन का कवि लक्ष्मणकृत अणुवतरत्नप्रदीप (जैन-सिद्धांत-भास्कर, भाग ६, पृष्ठ १५५-१७७)।

अपभ्रंश भाषा और साहित्य

११६

बाद) में चौहानवंशी राजा आहवमल्ल राज्य करते थे। काव्य की उत्थानिका में नगर और राजकुल का सुंदर वर्णन हुआ है। वहाँ के लंबेचू वंश के साहुकुल का भी अच्छा वर्णन किया गया है। स्वयं कवि जायस (जायसवाल) कुल के साहुल और जइता के पुत्र थे।

रइधू 'पंद्रहवीं शताब्दी के बड़े प्रतिभाशाली कवि हैं, जिनकी तेईस रचनाओं का पता चल चुका है। उनकी दो जयमालों का उल्लेख हमने ऊपर किया है। उनके महाकाव्यों में से उल्लेखनीय हैं—'मेहेसर चरित'—चौदह संधियों का, 'सिद्धचक्रमाहण', अपर नाम 'सिरिवालकहा'—दस संधियों का और 'पासणाह पुराण'—छह संधियों का। कवि ने अधिकतर काव्य-रचना गोपाचल (ग्वालियर) में की थी। उनका रचना-काल संवत् १४६७ वि० से संवत् १५२१ वि० तक माना जाता है।

लक्ष्मणदेव का 'णेमिणाह चरित' (संवत् १५१० वि० से पूर्व) चार संधियों का है। कवि की जन्मभूमि मालव देश के अंतर्गत गोनंद नाम की नगरी थी, जिसकी स्थिति उज्जैन और भेलसा के मध्य में सिद्ध होती है। कवि के मतानुसार 'यहीं पहले पहल वह व्याकरण रचा गया था जो बुध जनों का मनोहर कंठाभरण हुआ'। मालूम नहीं वह कौन सा व्याकरण था। कवि के कुल का नाम पौरवाड़ और पिता का नाम रयण (रत्न या रत्नदेव) था। कवि ने कहा है कि मैंने आपाढ़ शुक्त १३ को काव्य लिखना प्रारंभ कर चैत्र कृष्ण १३ को समाप्त किया, किंतु संवत् का उल्लेख मेरे देखने में नहीं आया, फिर भी जो प्रति मैंने देखी वह संवत् १५१० की लिखी हुई थी। इसी से काव्य-रचना का समय उससे पूर्व होना निश्चित होता है।

महिंदु (महिचंद्र) कृत 'सांतिणाह चरित' (संवत् १५५७ वि०) तेरह संधियों में है। कवि ने योगिनीपुर में बाबर बादशाह के राज्यकाल में रचना की थी और गुरुपरंपरा में माथुर संघ, पुष्कर गण के यशःकीर्ति, मलयकीर्ति और गुणभद्र सूरि का उल्लेख किया है, तथा अपने प्रेरक अग्रवाल-वंश के गर्ग-गोत्रीय भोजराज-सुत ज्ञाना (ज्ञानचंद) के पुत्र साधारण के कुल का विस्तार से वर्णन किया है।

यशःकीर्तिकृत भी अनेक अपभ्रंश रचनाएँ पाई जाती हैं। उन्होंने 'हरिवंश पुराण' तेरह संधियों में संवत् १५२० वि० में पूरा किया था।

१—देखिए परमानंद शास्त्री का अपभ्रंश भाषा के प्रसिद्ध कवि पं० रइधू (अनेकांत, ५-१२, जनवरी, सन् १९४३)।

२—देखिए उन्हीं का अपभ्रंश भाषा का शांतिनाथ चरित (अनेकांत, ५, ६-७, जुलाई-अगस्त, सन् १९४२)।

इसमें कृष्ण-जन्म से लेकर नेमिनाथ के निर्वाण तक का वर्णन है। कवि ने अपनी गुरुपरंपरा इस प्रकार दी है—माथुर संघ, पुष्कर गण के देवसेन, विमलसेन, धर्मसेन, भावसेन, सहस्रकीर्ति, गुणकीर्ति, यशःकीर्ति, मलयकीर्ति, गुणभद्र और यशःकीर्ति। कवि के प्रेरक थे साहु दिउडा, जो योगिनीपुर के अग्रवाल-वंश के गर्ग-गोत्रीय देवचंद्र साहु के पुत्र थे। इन्हीं कवि का दूसरा काव्य है—‘चंदणह चरिउ’, जो ग्यारह संधियों में पूरा हुआ है। यह हुंबड कुल के कुमारसिंह के पुत्र सिद्धपाल की प्रेरणा से लिखा गया था।

जयमित्रहल्लकृत ‘सेणिय चरिउ’ उनके ‘वडुमाणकवु’ की ग्यारह संधियों में से अंतिम छह संधियों में है। प्रथम पाँच संधियों का मुझे पता नहीं चल सका। पर वर्तमान ग्रंथ अपने रूप में है पूरा। यह काव्य देवराय के पुत्र संधाधिप होलिवर्म के कर्णाभरणरूप लिखा गया है। समय का ठीक निश्चय नहीं है। हस्तलिखित प्रति का समय संवत् १७६६ वि० है।

वीरकृत ‘जंबूसामि चरिउ’ में पंद्रह संधियाँ हैं। कवि ने अपने पिता महाकवि देवदत्त की चार कृतियों का उल्लेख किया है। इनमें से प्रथम ‘वरांग चरिउ’ तो पद्धडियाबंध कहा ही गया है, शेष ‘सुडुयवीरकहा’, ‘सांति चच्चरिया’ और ‘अंबादेवी रास’ भी अपभ्रंश की ही रचनाएँ हो सकती हैं। एक संधि के आदि पद्य में कवि ने कहा है कि जब स्वयंभू का जन्म हुआ तब एक कवि हुए, पुष्पदंत के होने से दो और देवदत्त के होने से तीन। ऐसे उत्कृष्ट कवि देवदत्त की रचनाओं की खोज अवश्य होनी चाहिए। प्रस्तुत कवि के प्रेरक धाकड़-वंशी तरकड सेठ के पुत्र मधुसूदन थे। काल का पता नहीं चल सका।

असवालकृत ‘पासणाह चरिउ’ की एक अधूरी प्रति देखने को मिली है, जो पत्र ५१ से प्रारंभ होती है, जहाँ छठी संधि के तीसरे कडवक का मध्य पड़ता है। ग्रंथ तेरह संधियों में समाप्त हुआ है। संध्यंत की पुष्पिकाओं में कहा गया है कि कवि ने यह काव्य-रचना संधाधिप सोणिय के कर्णाभरणरूप की है। समय का पता नहीं चला। हस्तलिखित प्रति मथुरा में संवत् १८६१ वि० में लिखी गई थी।

यहां मैं केवल एक और रचना का परिचय कराकर इस लेख को समाप्त करता हूँ। हरिदेवकृत ‘मयण-पराजय’ दो संधियों का काव्य है, पर इसकी एक-विशेषता है। इसमें पद्धडिया के अतिरिक्त रड्डा छंद का भी उपयोग हुआ है। यह एक रूपक काव्य है, जिसमें कामदेव राजा, मोह मंत्री और अहंकार, अज्ञान आदि सेनापतियों सहित भवनगर में राज्य करते हैं। चरित्रपुर के राजा जिनराज उनके शत्रु हैं, क्योंकि वे मुक्ति-अंगना को व्याहना चाहते हैं। काम ने राग-द्वेष नामक दूत द्वारा उनके

अपभ्रंश भाषा और साहित्य

१२१

पास यह संदेश भेजा कि या तो आप अपना यह विचार छोड़ अपने तीन रत्न—दर्शन, ज्ञान और चारित्र्य काम के सुपुर्द कर दें या युद्ध के लिये तैयार हो जायें। जिनराज ने कामदेव से लोहा लेना ही स्वीकार किया और अंत में उन्हें बुरी तरह परास्त कर अपना इरादा पूरा किया। इस सुंदर काव्य के कर्ता ने अपना इतना ही परिचय दिया है कि मैं चंगदेव का तृतीय पुत्र हूँ तथा मेरे दो ज्येष्ठ भ्राताओं के नाम किंकर और कण्ह हैं। इस काव्य का संस्कृत पद्यानुवाद भी मिलता है, जो हरिदेव से पाँचवीं पीढ़ी में उत्पन्न नागदेव का रचा हुआ है, जिनकी कुलपरंपरा इस प्रकार है—चंगदेव, हरिदेव, नागदेव, राम, प्रियंकर, मल्लुगि और नागदेव। इस काव्य का ठकुर माइंद के पुत्र जिनदेव ने अपने 'स्मरपराजय' में परिवर्धन किया, ऐसा प्रतीत होता है। इसका अनुवाद हिंदी में प्रकाशित हो चुका है।

'मदनपराजय' की प्रति के काल का उल्लेख भी महत्वपूर्ण है, क्योंकि इसमें इलाही संवत् ४१ और संवत् १६५४ वि० का उल्लेख है, जब अकबर का राज्य था। इस प्रकार इलाही संवत् का प्रारंभ संवत् १६५४ वि०-४१=सं० १६१३ वि०=१५५६ ईसवी में पड़ता है। हुमायूँ की मृत्यु इसी वर्ष के अक्टूबर मास में हुई, ऐसा माना जाता है। इससे स्पष्ट है कि अकबर ने इलाही संवत् अपने राज्यारूढ़ होने के काल अर्थात् फरवरी १४, सन् १५५६ से ही चलाया था, जब कि साम्राज्य का भाग्य अस्थिर था और सम्राट की वय केवल तेरह वर्ष की थी।

१३२ लेख तो मैं समाप्त करता हूँ, किंतु अपभ्रंश-साहित्य का परिचय अभी समाप्त नहीं हो सका। अपभ्रंश का जितना साहित्य प्रकाशित हो चुका है उससे कई गुना अधिक अप्रकाशित साहित्य का पता चल गया है, और जितने का पता चला है उससे भी कई गुना अधिक अभी हमारी आँखों से सर्वथा ओझल है। जो नया ग्रंथ उपलब्ध होता है उसी में उससे पूर्ववर्ती अनेक अपभ्रंश-लेखकों के उल्लेख मिलते हैं। लगभग तीस वर्ष पूर्व अपभ्रंश भाषा का किसी को कुछ भी पता नहीं था। पिछले दश वर्षों में इस भाषा की ओर विद्वानों का ध्यान गया और एकाध ग्रंथ भी सामने लाए गए। किंतु जब से मैंने कारंजा शास्त्र-भांडारों का अवलोकन कर वहाँ के दस-बारह अपभ्रंश-ग्रंथों की ओर विद्वत्समाज का ध्यान आकृष्ट किया तब से इस भाषा की खूब चर्चा हो रही है और इस ओर लोगों की रुचि उत्तरोत्तर बढ़ती जा रही है। इससे आशा होती है कि इस बहुमूल्य किंतु विलुप्त साहित्य के गवेषण, संपादन और प्रकाशन में अब प्रमाद न होगा। उपर्युक्त परिचय में जिन रचनाओं के लिये आधार का उल्लेख नहीं किया गया उनकी टिप्पणियाँ मेरे पास हैं।

प्रशस्तिकाव्य में इतिहास की सामग्री

श्री बटेकृष्ण त्री० ए० (आनर्स), एम० ए०

राजकीर्ति में दो विषय प्रधान हैं—वीरता और ऐश्वर्य । ऐश्वर्य का वर्णन राजत्व का गौरव और उसकी विशिष्टता बताने के लिये किया जाता है । इसके अंतर्गत वस्तु-वर्णन होता है—ऐसी वस्तुओं का वर्णन जो सर्वसाधारण के पास नहीं पाई जातीं, जो किसी शक्तिमान् नृपति के पास ही संभव हैं । राजभवन, उपवन आदि के वर्णन में अप्सराओं से बढ़कर अपार सुंदरी, अमूल्य मणिजटित अलंकारों से विभूषित रमणियों से युक्त, इंद्र के राजभवन से हजारों गुने सुंदर और सजे राजप्रासादों का वर्णन इसीलिये होता है कि वर्णनकर्ता कवि के आश्रयदाता के समान समृद्धिशाली दूसरा नहीं है ; इनके उपवन की समता इंद्र का नंदनकानन भी नहीं कर सकता । इनका वैभव त्रिलोक के वैभव से भी बढ़कर है । आश्रयदाता में

१—यह प्रबंध काशी नागरीप्रचारिणी सभा के 'आर्यभाषा पुस्तकालय' में सुरक्षित हस्तलेख संख्या बासठ के आधार पर लिखा गया है । इस हस्तलेख के लिपिकार श्री जेतसिंह महापात्र हैं जो मुगल सम्राट् औरंगजेब के पुत्र मुअज्जमशाह शाहआलम के आश्रित थे । इसमें जेतसिंह की रचनाएँ तो हैं ही, इनके प्रपितामह नरहरि महापात्र, पितामह हरिनाथ महापात्र तथा पिता मनीराम की रचनाएँ भी पृथक् पृथक् संगृहीत हैं । ये सभी व्यक्ति मुगल सम्राट् अकबर से लेकर मुअज्जमशाह तक के समस्त मुगल-दरबारों को देख चुके थे । जेतसिंह या जयतसिंह का जन्म संवत् १७०३ में प्रथम श्रावण शुक्ला द्वादशी, भौमवार को हुआ था । इन्हें महापात्र की उपाधि मुअज्जम ने ही दी थी । इन्होंने संवत् १७२७, मार्गशीर्ष शुक्ला षष्ठी को 'माजमप्रभाव' या 'माजमप्रकाश' नामक अलंकार ग्रंथ रचा और संवत् १७६२, ज्येष्ठ कृष्णा षष्ठी को संस्कृत 'प्रबोधचंद्रोदय' का हिंदी में पद्यानुवाद किया । इन रचनाओं के अतिरिक्त इनके बहुत से फुटकल छंद भी इस संग्रह में उपलब्ध हैं । जैसा कि इस हस्तलेख से ज्ञात होता है नरहरि, हरिनाथ और मनीराम ने भी श्रृंगार की कुछ रचनाएँ प्रस्तुत की हैं, जो प्रायः रीतिबद्ध ही हैं । नरहरि ने तो छोटा सा बारहमासा भी लिखा है जो इसमें विद्यमान है । हस्तलेख माजमावाद (दक्षिण) में लिखा गया था । इस प्रबंध में उद्धृत अंशों का पाठ हस्तलेख के ही अनुसार रखा गया है ।

प्रशस्ति काव्य में इतिहास की सामग्री

१२३

उदारता इतनी है कि हजारों हाथी, घोड़े दान कर देना उनके लिये कौतुक मात्र है। कर्ण जैसे दाली की बात तो जाने दीजिए, उनकी दानशीलता देखकर कभी गिरिजा भी डरने लगती थीं कि कहीं हाथी के धोखे वे गजानन को भी न दे डालें। वर्णन में पौराणिकता का यह रंग और वेभव के इतने बड़े-चढ़े विवरण राज-ऐश्वर्य की प्रशंसा करने तथा पुरस्कार पाने की लालसा से ही दिए जाते थे।

वीरता तो क्षत्रियों का प्रधान गुण रहा है। अंगरेजों के पहले जब इनके हाथों में प्रभुता थी, इन्हें प्राण देने और लेने में कोई हिचक नहीं थी। इसे ये अपना धर्म समझते थे। अपना प्रभुत्व तथा मर्यादा बनाए रखने के लिये यह आवश्यक भी था। शौर्य के भव्य दर्शन तो उस समय आए दिन हुआ करते थे। रण में रक्त-सरिता का बहना तो साधारण बात थी। शिव के गण उसमें तैर कर परम आनंद प्राप्त करते थे। कोमलांगी शत्रुपत्नियाँ जब विकट गिरि-गह्वरों को नंगे पैर लौघती थीं और जब जेठ की दुपहरी में चटकते गले से नदियाँ पार करती थीं तब जान पड़ता था कि अमुक नृपति का आतंक किस प्रकार छाया हुआ है। ऐसे वर्णन भय और घबड़ाहट के बड़े ही सजीव और मर्मस्पर्शी चित्र होते थे। दरबारी कवि आतंक आदि के वर्णन सामान्य रूप से चाहे सबके लिये करते रहे हों किंतु जब किसी विशिष्ट युद्ध का चित्रण करने बैठते थे तब उनके कथन में सत्यांश भी रहता ही था, अतिशयोक्ति मात्र नहीं। इतिहासकार कवियों को मिथ्या प्रशंसक समझकर उनके कथन को सदा अविश्वास के कानों से ही सुनते रहे हैं। यह माना जा सकता है कि ऐसे वर्णनों के पीछे स्वार्थ भी लगा रहता रहा है, जिससे वे कहीं कहीं अतिरंजित भी हो गए हों, किंतु थोड़ी सी अतिरंजना के कारण ही वे सर्वथा त्याज्य नहीं माने जा सकते। एक प्रत्यक्षदर्शी का कथन होने के नाते उनमें सत्यता चाहे अल्पांश में ही हो, परंतु होती अवश्य है। ऐसे वर्णनों को चाहे पक्षपातरहित न कहें पर एक पक्ष का कथन तो मानेंगे ही। कभी कभी तो ऐसा भी देखा गया है कि कवियों की अतिरंजना भी ऐतिहासिक सत्य प्रमाणित हुई है।

हिंदी में ऐसे बहुत से कवि हो गए हैं जिनका प्रधान लक्ष्य आश्रय-दाताओं की कीर्ति गाकर उनके ऐश्वर्य तथा उनकी वीरता का भव्य रूप खड़ा करना ही रहा है। उनकी रचनाओं में स्थान-स्थान पर ऐसी अनेक ऐतिहासिक घटनाओं के संकेत मिलते हैं जिनसे उनके आश्रयदाताओं का संबंध रहा है। यदि उनमें वर्णित ऐतिहासिक घटनाओं का समुचित उपयोग किया जाय तो इतिहास में बहुत सी नई बातें जुड़ सकती हैं तथा बहुत से रहस्य उद्घाटित हो सकते हैं। इन्हीं कवियों में से जेतसिंह भी एक हैं, जो

औरंगजेब के पुत्र मुअज्जमशाह शाहआलम के साथ दक्षिण में रहकर अनेक घटनाओं और सरदारों का वर्णन तथा गुणगान कर गए हैं। ये क्या, इनके पुरखे भी मुगल-दरबार की ऐसी ही सेवा करते थे। अकबर के दरबार के प्रसिद्ध कवि नरहरि महापात्र बंदीजन इनके प्रपितामह ही थे। यह तो प्रत्यक्ष ही है कि ये लोग इतिहासकार नहीं, कीर्तिगायक थे। इन्हें कुछ कहने के लिये अपने आश्रयदाताओं के समसायिक कार्यों का सहारा मात्र मिल जाया करता था।

यों तो जेतसिंह ने मुअज्जम की प्रशंसा में 'माजमप्रकाश' नामक अलंकार ग्रंथ ही अपने प्रतिज्ञानुसार 'काव्यप्रकाश' के आधार पर लिखा है, किंतु ऐतिहासिक सामग्री की प्राप्ति की दृष्टि से उसका विशेष महत्त्व नहीं है। इनके फुटकल छंदों से मुअज्जम के विषय में कुछ अवश्य जाना जा सकता है। जैसा ऊपर कह आए हैं राज-ऐश्वर्य के वर्णन में रनिवास का वर्णन भी किया जाता है और एक से एक सुंदर रमणियों का उसमें होना बताया जाता है। किंतु कोई कवि अपने आश्रयदाता को कृष्ण की भाँति नायक के रूप में उन स्त्रियों से रमण करता हुआ नहीं दिखाता। नैतिकता की दृष्टि से विलासिता अवगुण ही मानी जाती है, गुण नहीं। इसी से आश्रयदाता को इससे बचाया जाता रहा है। कई स्त्रियाँ रखना राजा के लिये दोष भी नहीं माना जाता। इसलिये उनका वर्णन मात्र काव्य में पाया जाता है। उनके साथ विलास करते हुए कम से कम हिंदू नृपति तो नहीं ही दिखाए जाते रहे हैं। कवियों ने मुसलमानों की विलासिता का वर्णन भी केवल नौरोज में ही किया है, जब कि वह उनके धर्म द्वारा समर्थित है। अन्यत्र उसकी गिनती दुर्गुण में ही होती रही है। जेतसिंह ने मुअज्जम की व्यक्तिगत विलासिता का भी वर्णन करके अपने कथन की सत्यता सिद्ध कर दी है, जिसे दूसरे लोग बचा जाते रहे हैं। यह नहीं कि इन्होंने उस बात का उल्लेख करके ही छोड़ दिया हो, बल्कि इन्होंने उसे बड़े विस्तार से कहा है। नायिका-भेद के अनुसार धीरा, प्रवत्सत्पतिका, आगतपतिका, मानवती आदि के अनेक उदाहरण मुअज्जम की विलासिता के प्रमाण में दिए जा सकते हैं। स्त्रियों के हाव-भाव, मुअज्जम के साथ उनकी विलास-क्रीड़ाएँ आदि निस्संकोच वर्णित की गई हैं।

मुगलकाल में जब आज की भाँति आवागमन का सुभीता नहीं था और राजनीति भी उतनी उन्नत नहीं थी तब इस बात की पूरी आशंका रहती थी कि किसी बड़े साम्राज्य की सीमा पर राजधानी से बहुत दूर रहनेवाले सूबेदार आदि विद्रोह करके स्वतंत्र होने का प्रयत्न करें, क्योंकि राजधानी से उनके विरुद्ध तुरत काररवाई करने में समय की अपेक्षा होती

प्रशस्तिकाव्य में इतिहास की सामग्री

१२५

थी और इस बीच विद्रोहियों को तैयारी का पूरा अवसर मिल जाता था। मुगलकाल में दक्षिण, पूर्व और उत्तर में बराबर विद्रोह होता रहा, जिसे दबाने के लिये तत्कालीन शासक सदा प्रयत्नशील रहे। कभी कभी तो शाह-जादे भी विद्रोह का झंडा खड़ा कर देते थे जिससे अत्यधिक विषम स्थिति उत्पन्न हो जाती थी। दक्षिण में रहकर एक बार मुअज्जम को भी दिल्लीश्वर बनने का शौक हुआ। बहुत से लोग उसकी हाँ में हाँ मिलानेवाले निकल आए। 'जैसी बहै बयार पीठ तब तैसी दीजै' का विचार कर जेतसिंह भी उन लोगों में शामिल हो गए। आप मुअज्जमशाह से कहते हैं—

दच्छिन दिसि सों नेह तकि दिल्ली दिसह रिसाइ ।

मो पै माजम साहि जी कृपा करत नहिं आइ ॥११॥

रहो तो सुलच्छिनी हे जाको बर जच्छिनी को जाहि बर बरे सोई साहि है उलहिया ।
याके हित हेत कीन्हों तासों किन हेत करो ध्यान धरें चाहे जो फूलति फुलहिया ॥
ताको मध्य पाती है वै आई पाती सुनो साहि माजम मेहरि कीजै तासों के सुलहिया ।
दच्छिन दिसा सों अति ऐह नेह कहा कीजै लीजै किन व्याहि वेगि दिल्ली सी दुलहिया ॥१४॥

कुछ लोगों का खयाल है कि चुगलखोरों ने बादशाह से अपना स्वार्थ सिद्ध करने के लिये ऐसी शिकायत कर दी थी कि शाहजादा खुदमुल्तार होने की कोशिश में है।^१ पर जेतसिंह का सुर 'औरंगजेबनामा' से मिल रहा है।^२ मुसाहिबों में अमानुल्ला भी एक था जिसका मुअज्जम को बहुत भरोसा था।^३

ऐसा जान पड़ता है कि जेतसिंह मुअज्जम के दरबार में अंत तक नहीं रहे; क्योंकि इन्होंने कुछ ऐसी प्रशस्तियाँ भी लिखी हैं जिनसे इनका मुगल-दरबार से संबंध-विच्छेद सा जान पड़ता है। महाराज छत्रसाल मुगलों के बहुत विरोधी थे। जेतसिंह ने इनकी भी प्रशंसा की है और धामुनी के मुगल फौजदार शेर अफगन को मारने में इनके वीरत्व का समर्थन किया है।^४ यह घटना १७५७ की है। इनके 'प्रबोधचंद्रोदय' में भी, जो संवत् १७६२ का लिखा है, मुअज्जम का कहीं कोई उल्लेख नहीं है। राजा उदोतचंद (गढ़वाली) आदि की प्रशस्तियों से भी यह बात भलकती है कि ये तब मुगलों के संपर्क में नहीं रहे।

१—देखिए यदुनाथ सरकारकृत 'शिवाजी' (हिंदी संस्करण), पृष्ठ ११६ ।

२—देखिए 'औरंगजेबनामा' का राय मुंशी देवीप्रसादकृत हिंदी अनुवाद (सन् १९१२ का संस्करण), तीसरा भाग, खंड १२, पृष्ठ ४४ ।

३—देखिए हस्तलेख का पचासवाँ छंद ।

४—देखिए उसी का सत्रहवाँ और अठारहवाँ छंद ।

मुक्तक प्रशस्ति प्रायः एक छंद की रहती है। जब किसी की प्रशस्ति के कई छंद मिलते हैं तब प्रत्येक छंद स्वतंत्र और स्वतःपूर्ण होता है। अतः एक छंद के छोटे से घेरे में सब बातें नहीं रखी जा सकतीं, केवल मुख्य मुख्य बातों का उल्लेख भर हो सकता है और उसमें भी प्रशस्ति का अंश प्रधान होता है। ऐसी परिस्थिति में घटना का पूरा विवरण ज्ञात नहीं हो पाता। कभी कभी ऐसा भी होता है कि बहुत सी घटनाएँ एक में मिली जान पड़ती हैं और इतिहास से मिलान करने पर ही उनकी संगति बैठ पाती है। जेतसिंह की फुटकल रचनाएँ ऐसी ही हैं। इनकी रचनाओं में जिन घटनाओं और व्यक्तियों के वर्णन मिलते हैं उनमें से ये मुख्य हैं—मुहकमसिंह का अवंतिका जीतना (छंदसंख्या ७०), सेफखाँ के पुत्र इनायतुल्ला का शाहगढ़ जीतना (छंदसंख्या १२१), जयसिंह का जुगराज कनपुरिया को हराना (छंदसंख्या १७६, १७७), भंगरखाँ (सिपहसालार) की कर्णाटक के पठानों पर विजय (छंदसंख्या ४५), रहेला युद्ध (छंदसंख्या ६३), शुभकरण बुंदेला का आक्रमण (छंदसंख्या ७१), बीकानेर के अनूपसिंह, अमरसिंह नरवरवाले, अमरसिंह फतहपुरी (छंदसंख्या ११०), टेहरी गढ़वाल के उदोतचंद, गजसिंह, केसरीसाहि, मारवाड़ के जसवंतसिंह (छंदसंख्या ६६), मसंतगढ़ के हृदयेस के पुत्र छत्रसाहि, जुगराज (छंदसंख्या १४७), जयसिंह, गोवर्धनसिंह, राय खंधारीमल, जगत राय, धीरसाहि, बलभद्रसाहि बछगोती, बिठलराज, मोहनसिंह, पद्मसिंह, भावसिंह, बेधीसिंह, लक्ष्मीनारायण राय, राय मंगद के नाती (पौत्र) भोलाराम सक्सेना, पहाड़सिंह (ये राजा जयसिंह की गद्दी पर बैठे), राघव राय, सत्रसाल के पुत्र, रामसिंह, हरिसिंह, यादव राय, रूपसिंह, हिम्मतसाहि, अमानुल्ला, हिदायतुल्ला, मुगलखाँ (इन्होंने दरन में मलिक का दमन किया), सैदमियाँ, महावतखाँ, औरंगजेब,

१—राजा जयसिंह महाराज प्रतापसिंह के पुत्र थे। इनके पुत्र का नाम समरसिंह था।

२—इन्होंने कर्णाटक मराठों से जीता। ये श्रीपंचमी को सिंहासनारूढ़ हुए। गढ़वाल में ये बदरीनाथ के अवतार माने जाते हैं। ये सोमवंशी और शैव थे।

३—इनके पिता का नाम शिवराज जान पड़ता है।

४—मोहनसिंह और पद्मसिंह करनेस (राव कर्ण भुरटिया) के पुत्र थे। मोहनसिंह को मुअज्जम बहुत मानता था। एक बार आमखास में पद्मसिंह ने खोजा कायम को मार डाला था (देखिए छंदसंख्या ५, १३)। 'मन्नासिहल उमरा' में लिखा है कि मुहम्मदशाह से झगड़ा किया। मिलाइए 'मन्नासिहल उमरा', रावकर्ण भुरटिया, पृष्ठ ८६।

५—भावसिंह, बेधीसिंह और लक्ष्मीनारायण राय तीनों भाई थे।

प्रशस्तिकाव्य में इतिहास की सामग्री

१२७

मुअज्जम, बाँकीखाँ (छंदसंख्या ११७), भगवंतसिंह, दत्ता' आदि। जैसा कि बंदीजनों का स्वभाव होता है जेतसिंह ने सबके दान और वीरता की ही प्रशंसा की है। यदि और किसी गुण की ओर झुके हैं तो नायक को दृढ़प्रतिज्ञ कह दिया है। दरबार, शिकार आदि का वर्णन भी यदाकदा करते चले हैं। किंतु अंत में घूम फिरकर अपने प्रधान लक्ष्य दान पर ही आ जाते हैं। इन्होंने अपनी दीन दशा आदि का भी उल्लेख किया है। अमरसिंह फतहपुरी के लिये कहा है कि ये कठिन समय में भी दान देते हैं। मारवाड़वालों से इन्हें प्रायः निराश ही होना पड़ा, क्योंकि उन लोगों की इन्होंने थोड़ी बहुत निंदा ही की है, प्रशंसा नहीं।

पहले राजदरबारों में यह प्रथा थी कि महत्त्वपूर्ण घटनाओं की तिथियाँ कवि लोग छंदबद्ध कर दिया करते थे। यह याददाश्त इतिहास के बड़े काम की होती थी। किसी बड़े व्यक्ति के निधन पर लोग प्रायः ऐसा करते थे। जेतसिंह ने शाहजहाँ की निधन-तिथि का उल्लेख इस प्रकार किया है—

सोरह सय बाईस हतेउ संवत अनंद तब।

माघ मास बदि तिथिव भएउ त्रोदसी सोम जब।

दिएउ पुत्र सिर छत्र साहिजाहान तजेउ बपु।

चढ़ि विमान सुरलोक गएउ भिस्ती निवास तपु।

छिति रहेउ छाई कीरति प्रबल जगत विदित मानहु किहसि।

जिमि उड़ि कपूर बासनहि तजि बास रहिय बासनहि बसि ॥ १४ ॥

कदाचित् इसमें उसी 'अनंद संवत्' का प्रयोग किया गया है जो 'पृथ्वीराज रासो' में व्यवहृत हुआ है। इसके अनुसार यह संवत् विक्रमी संवत् से ठीक सौ वर्ष पीछे पड़ता है। इतिहास में दो हुई शाहजहाँ की निधन-तिथि से ठीक सौ वर्ष बाद की यह तिथि है।^१

पुराने कवियों की यह परंपरा रही है कि वे अपनी रचनाओं में अपने नाम की छाप रखा करते थे। कुछ लोग इसका पूरा पूरा पालन करते थे और कुछ लोग अंशिक रूप में ही। आवश्यकतानुसार नाम छोटा भी कर लिया जाता था। कभी कभी नाम के पर्याय से भी काम निकाल लेते थे। किसी किसी का नाम कविता के अर्थ के साथ भी बैठ जाता था, या यों

१—ये किसी ताज नामक तुर्क के साथ लड़ाई में मारे गए। ये प्रसिद्ध जादोराव कानसरिया के वंशज जान पड़ते हैं। देखिए छंदसंख्या ४७, ४८ और मन्नासबल उमरा, पृष्ठ १७६-१७६ (हिंदी संस्करण)।

२—देखिए 'औरंगजेबनामा' का 'राय मुंशी देवीप्रसादकृत हिंदी अनुवाद, खंड ३, पृष्ठ ६५, संवत् १६६६ का संस्करण।

कहिए कि लदाव के दोष से बचने के लिये कवि लोग अपने नाम सार्थक करने का प्रयत्न करते थे। ईश्वर विषयक, विशेषकर कृष्ण के पर्याय; जैसे—हरि, केशव, माधव आदि नाम बड़ी सरलता से छंद में खप जाते हैं। ऐसी स्थिति में यदि पैनी दृष्टि से काम न लिया जाय तो चूक होने की पूरी आशंका रहती है। कभी कभी यह चूक बहुत बड़ा उलटफेर भी कर देती है। आलम कवि के संबंध में ऐसा ही उलटफेर हो गया है। 'आलम' शब्द 'संसार' के अर्थ में चलता है और आलम कवि का नाम भी है। कविता में 'आलम' आया और कोई दूसरी छाप न दिखाई देने के कारण 'आलम' कवि की छाप मान ली गई। कह दिया गया कि छंद आलम कवि का है। छंद यह है—

जानत औलि किताबनि को जे निसाफ के माने कहे हैं ते चीन्हे ।

पालत हौ इत आलम को उत नीके रहीम के नाम को लीन्हे ।

मोजमशाह तुम्हें करता करिवे को दिलीपति हैं बर दीन्हे ।

काबिल हैं ते रहैं कितहूँ कहूँ काबिल होत हैं काबिल कीन्हे ॥^१

आलम की छाप इसलिये भी मान ली गई कि 'मोजमशाह' जिसका पालन करते हैं वह व्यक्ति आलम भी हो सकता है। अतः लोगों ने यह निष्कर्ष निकाल लिया कि कवि आलम मुअज्जमशाह के आश्रित थे। यह भ्रम तब तक दूर न हो सका जब तक यही छंद जेतसिंह की प्रामाणिक रचनाओं में न मिल गया।^२ यह छंद जेतसिंह ने मुअज्जम की प्रशंसा में कहा है जो उन्हीं के हाथों लिखे गए इस हस्तलेख में उन्हीं के नाम अंकित है। इनके सभी छंदों में इनकी छाप नहीं मिलती। 'आलम' शब्द का ऐसा ही प्रयोग मुअज्जम का 'शाहआलम' नाम सार्थक करने के लिये इन्होंने कई छंदों में किया है।

जिस रचनाकार का सन्-संवत् नहीं उपलब्ध रहता उसकी कृति में आए ऐतिहासिक पुरुष या घटना का, यदि वह उसका उल्लेख किए रहता है, सन्-संवत् ज्ञात होने से रचनाकार की उपस्थिति का समय बड़ी सरलता से ज्ञात हो जाता है। नरहरि महापात्र के समय के विषय में अब तक जो कुछ ज्ञात है वह 'शिवसिंह-सरोज' और 'मिश्रबन्धु-विनोद' के ही आधार पर। जेतसिंह के इस हस्तलेख में नरहरि की रचनाओं का भी संग्रह होने से उनके

१—'शिवसिंह-सरोज' (सातवाँ संस्करण), पृष्ठ १० ।

२—देखिए 'नागरीप्रचारिणी पत्रिका' (वर्ष ५०, अंक १-२, वैशाख-श्रावण, २००२) में प्रकाशित श्री विश्वनाथप्रसाद मिश्र का 'आलम और उनका समय' नामक प्रबंध ।

प्रशस्तिकाव्य में इतिहास की सामग्री

१२६

विषय में बहुत सी बातें ज्ञात होती हैं। नरहरि के समय के विषय में 'शिवसिंह-सरोज' में लिखा है—'नरहरिराय बंदीजन असनीवाले, सं० १६०० के बाद उ०' (उपस्थित)।^१ 'मिश्रबंधु-विनोद' के अनुसार 'इनका जन्म संवत् १५६२ में हुआ। कहते हैं, इन्होंने १०५ वर्ष की आयु पाई।'^२ इस तरह इनकी मृत्यु संवत् १६६७ में हुई, जैसा स्वर्गीय आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने भी कहा है।^३ किंतु इनकी रचनाओं से यह ज्ञात होता है कि ये सत्रह वर्ष बाद संवत् १६८४ में भी विद्यमान थे। नरहरि ने अकबर के अतिरिक्त जहाँगीर का दरबार ही नहीं उसकी मृत्यु भी देखी थी। इनके जहाँगीर विषयक छंदसंख्या में अकबर विषयक छंदों से कम नहीं हैं। जहाँगीर की मृत्यु के पश्चात् जब ये दरबार में बुलाए गए तब इन्होंने बुढ़ापे के कारण भगवद्भजन के दिनों में वहाँ उपस्थित होने में अपनी असमर्थता प्रकट करते हुए यह लिखा—

सेरन साहि सलेम पुहुमि एक छत्र राजु किअ।

तिन मोहि कहँ करि कृपा मानु, धनु, खिति, खिताबु दिअ।

तिन्हके मरत नहिँ मुएँ लाज गहि बन न सिधाएँ।

तिन्हके सुतन पर परी विपति तहाँ केहु काम न आएँ।

एहि लाज गहेउ जगदीस हरि, नरहरि चलत न वित्त सुख।

फिरि फेरि बुलावहिँ साहि मोहि सो आनि दिखावँ कौन मुख ॥ ५० ॥

यह छंद स्पष्ट रूप से जहाँगीर की मृत्यु के पश्चात् का ही लिखा है, जो संवत् १६८४ में हुई। अतः नरहरि की आयु १०५ वर्ष की मान लेने पर 'सरोज', 'विनोद' और 'इतिहास' आदि में दिए गए इनके संबंध के सब सन्-संवत् गलत ठहरते हैं। इनकी विरक्ति को देखते हुए संवत् १६८४ को इनके कविता-काल के अंत का समय कह सकते हैं, क्योंकि इस समय भी इनका दरबारों में जाना मिलता है। हस्तलेख के छंद ६६ में ये कहते हैं कि जहाँगीर से दान पाकर भी मैं संतुष्ट नहीं हुआ और उसकी मृत्यु के बाद भी मैं दूसरों के यहाँ जाता हूँ। इस समय तो पुरुषोत्तम का ही भजन करना चाहिए।

अब रह गया इनके कविता-काल के आरंभ का संवत्। इनकी रचना में जिन जिन लोगों का उल्लेख मिलता है उनके नाम ये हैं—हुमायूँ, अकबर, सलीम, राजा रामचंद्र बघेला, मुकुंददेव, केशवभट्ट काशीवाले,

१—सातवों संस्करण, पृष्ठ ४३७।

२—चतुर्थ संस्करण, पृष्ठ २५७।

३—देखिए आचार्य रामचंद्र शुक्लकृत 'हिंदी-साहित्य का इतिहास' (संशोधित और प्रबर्धित संस्करण, संवत् २००२), पृष्ठ १७२।

वीरसिंहदेव, खोजा मोयदीन पीर, दौलतख़ाँ, अब्दुरहीम खानखाना, वाजिदख़ाँ, ग़ौस मुहम्मद, शेरशाह और सैयद मुबारख (मुबारक) के पुत्र। इनमें से हुमायूँ और शेरशाह के नाम कविता-काल के आरंभ के के समय के लिये विशेष महत्त्वशाली हैं। नरहरि ने चार छंदों में हुमायूँ के मनसूबे का वर्णन किया है। एक छंद देखिए—

पुरख हह पछिम पहाड़ दोउ खंभ किए विधि जानि अगाऊँ ।

इत सुमेर उत चढ़त लंक हय मारि तेग नरपति सब नाऊँ ।

हिंद तें खेदि पठान खगवर दल दलमलि दरियाय बहाऊँ ।

गजिहि बहुरि जित्ति दिल्लीपति इमिहिंडोल रन्धो साहि हुमाऊँ ॥ ८ ॥

दूसरे छंद में यह भी कहा है कि हुमायूँ जब जीतना आरंभ करेगा तब सबको जीत लेगा। जब तक सिंह आक्रमण नहीं करता तब तक मृग कूदा ही करते हैं। सबसे ऊपर भाग्य की बात है। विधि के प्रतिकूल होने पर जब अर्जुन भी गोपियों की रक्षा न कर सके तब हुमायूँ की क्या बिसात है। इससे यह भासित हो रहा है कि हुमायूँ दिल्ली पर फिर से अधिकार करना चाहता था। संवत् १५६६ में हुमायूँ चौसा के मैदान में शेरशाह से हारकर भाग गया था। किंतु उसकी दृष्टि भारत पर से हटी नहीं थी। पंद्रह-सोलह वर्ष बाद अनुकूल अवसर देखकर उसने फिर भारत पर आक्रमण कर दिया और संवत् १६१२ में दिल्ली पर उसका पुनः अधिकार हो गया। हुमायूँ विषयक छंदों में नरहरि ने पठानों को हराकर फिर से उसके द्वारा दिल्ली जीतने की जो बात कही है वह उनके कहने के ढंग द्वारा वर्तमान समय की ही जान पड़ती है, क्योंकि उस समय दिल्ली पठानों के ही हाथों में थी। एक छंद में शेरशाह की विजय का वर्णन भी नरहरि ने किया है। वह छंद है—

सेरसाहि भुज जोर खगवर मेगल घटा मारि मुँह मोरी ।

नरहरि सुकवि जोगिनि गुन गावत भूत सार गन होरी ।

फूल्यो फर्यो अकास नखत तहँ इंदु किसान करे मति बोरी ।

एक आवँ से गीध उड़े लें मापत मनहु पर.....॥ ८५ ॥

मेरी समझ से इस छंद के प्रथम चरण में 'मेगल' के स्थान पर 'मोगल' होना चाहिए, तब अर्थ ठीक बैठ जाता है। अंतिम चरण में जो अंश त्रुटित है वह विशेष महत्त्वशाली नहीं जान पड़ता। 'मनहु' पड़े रहने से किसी उत्प्रेक्षा के होने की संभावना है। इस छंद में उसी चौसा के युद्ध का संकेत मिलता है जिसका उल्लेख ऊपर हो चुका है। इससे नरहरि शेरशाह के समर्थक से दिखाई देते हैं। यदि इस समय भी नरहरि का उपस्थित रहना मान लें तो इनका कविता-काल संवत् १६१२ से ऊपर हटकर

प्रशस्तिकाव्य में इतिहास की सामग्री

१३१

संवत् १५६६ हो जाता है। ऐसी स्थिति में 'सरोज' में दिया संवत् १६०० बेकार हो जाता है। दूसरे 'विनोद' में दिया गया इनका जन्म-संवत् १५६२ मान लें तो संवत् १६८४ में इनकी वय १२२ वर्ष की हो जाती है, जो असंभव प्रतीत होती है। इन्होंने एक दोहे में अपनी वय के एक सौ आठवें वर्ष की चर्चा की है—

आहि करत नहिँ प्रान गे इह अचिरज बड़ आहि।

तब सो सत्त अब्र अष्ट मे विच्छुर सेरन साहि ॥ ६३ ॥

इस दोहे का भावार्थ यह जान पड़ता है कि इस वय में समय बड़े कष्ट से कट रहा है। किसी प्रकार वय १०७ से १०८ हो गई है। ऐसी अवस्था में नरहरि अधिक से अधिक दो एक साल और जीवित रहे होंगे, ११० की वय पाई होगी। अतः 'विनोद' का जन्म-संवत् भी ठीक नहीं ठहरता। सब बातों का विचार कर इनका जन्म संवत् १५७५-७६ के लगभग और इनकी मृत्यु संवत् १६८५-८६ के लगभग मानी जा सकती है।

अथ देखना यह है कि ये किन किन लोगों के यहाँ रहे। पहले ये राजा रामचंद्र बघेला के यहाँ थे—ऐसा इनकी रचना से ज्ञात होता है। संवत् १६२२ में अकबर ने राजा रामचंद्र बघेला पर चढ़ाई की और गढ़ा जीतकर उन्हें अपने अधीन कर लिया। जब राजा साहब अकबर के यहाँ चले गए तब नरहरि निराश्रय होकर भटकने लगे और अंत में मुकुंद दिवदेव के आश्रय में चले गए। नरहरि ने इस घटना का उल्लेख इस प्रकार किया है—

बसुहँ मालदेउ नत्थि देत नाना विलंब कछु।

नगर कोट गिरि अगम भारु नहिँ सहहिँ भूप तुछु।

उद बस विद्या नगर गोर गुजरात दुंद नित।

गएउ गढ़ा सुख साहि दानि नृप राम विग्र-चित।

ऐहि सोच विप्र व्याकुल फिरहिँ कहि नरहरि चारिहु बरन।

पोषै मुकुंद दिवदेव कहँ सो सामुझि कलिजुग करन ॥ १२१ ॥

संवत् १६२५ में चित्तौड़-विजय के समय ये अकबर की राज-सभा में थे। इन्होंने चित्तौड़-विजय की तिथि एक छप्पय में इस प्रकार बाँधी है—

सोरह सै पच्चीस सँवत कुज द्वादसी चैत बदि।

सन् नव सै पचहत्तरि पच्चीस तारीख सावान जदि।

उत हिंदू गढ़पत्ति भिरौ भ्रमु छंडि खंड पर।

इत काबिलपति कोपि चढ़ेउ दल सजि खगवार।

नव रस अपु घन रहरिनि रखि बहुरि भवन भवन भारथ किएउ।

सकबंध अकबर साहि कि चंपि जोर चित्तौर लिउ ॥ १०३ ॥

इसी संवत् १६२५-२६ में अकबर को शेख सलीम चिश्ती के आशीर्वाद

से पुत्र-लाभ हुआ था। कहते हैं कि अकबर को पुत्र नहीं हो रहा था। इस-लिये तरह तरह की मनौतियाँ मानी जा रही थीं। संतों से प्रार्थना की जाती थी कि शाह अकबर को पुत्र होने का आशीर्वाद दिया जाय। नरहरि ने भी 'खोज मोनदी पीर' से इसकी प्रार्थना की थी—

खोज मोनदी पीर सुनहु बिनती करे नरहरि ।

नरहरि बिनती क्या करे हिंदू तुरक समेत ।

पाय पयादे जगत गुर जानत हो केहि हेत ।

..... चेति उतप जसु लिज्जे ।

उचित पुत्रफल बेगि साहि अकबर कहँ दिज्जे ।

चिरंजीव पितु सहित पुहुमि राखे करत रहिर ॥ ६ ॥

नरहरि ने शेख सलीम की प्रशंसा इन शब्दों में की है—

दोह सेख सकलेम कुतुरबानी हाजिर ।

अबू मुहम्मद सखी करमुना अब्दुल कादिर ।

या कादिरहा जाति हुकुम हाकिम सम दानि ।

सेद मोहदी पीर बली इलाह गिलानि ।

हसनी हुसेनी हुकुम तुव गोपद सुमादर दकस ।

सब दस्तगीर नरहरि निरखि गोसालम फिरियादि रस ॥ ३७ ॥

इसी तरह सूफी संत गौस मुहम्मद की भी प्रशंसा की गई है^१ ।

प्रशस्तिकारों में मुक्तक रचनाओं के अतिरिक्त कीर्ति-गान के लिये एक और विशिष्ट पद्धति प्रचलित थी। वह यह कि कवि लोग चरितनायक के गुणों का विवेचन दो व्यक्तियों के संवाद द्वारा करते थे। यह संवाद एक प्रकार का वाद-विवाद सा होता था और अंत में किसी युक्ति से उस वाद-विवाद का निर्णय चरितनायक द्वारा ही कराकर उसकी श्रेष्ठता प्रतिपादित करते थे। महाकवि केशवदास की 'जहाँगीर-जस-चंद्रिका' और 'वीरचरित' ('वीरसिंह देवचरित') देखने से यह बात स्पष्ट हो जायगी। संवाद के लिये व्यक्तियों का चुनाव भी साभिप्राय होता था। संवाद प्रायः दान और लोभ का, भाग्य और उद्यम आदि का कराते थे, जिससे यह सिद्ध हो सके कि नायक दान और पराक्रम आदि विशिष्ट गुणों से युक्त है। नरहरि महापात्र ने भी इस प्रकार की कुछ रचनाएँ की हैं। केशवदास जी की भाँति इन्होंने किसी की प्रशंसा में सर्गबद्ध ग्रंथ तो नहीं लिखा, किंतु कुछ 'वाद' अवश्य लिखे; जैसे—लोहे सोने का वाद, नैन कान का वाद, मंगन दानी का वाद, तेल-तंबोल का वाद आदि।^१ एक एक वाद दस-दस बारह-बारह छंदों से अधिक

१—देखिए हस्तलेख का सत्ताईसवाँ छंद। २—इस हस्तलेख में ये ही चार 'वाद' संगृहीत हैं।

प्रशस्तिकाव्य में इतिहास की सामग्री

१३३

का नहीं है। कोई 'वाद' अकबर के लिये लिखा गया है, कोई रामचंद्र बघेला के लिये। मंगन और दानी के वाद में, जो रामचंद्र बघेला के लिये रचा गया है, काशी के केशव भट्ट को बहुत बड़ा पंडित और जप-तप करके सब ज्ञान का पारंगत बताया गया है। नरहरि ने अपनी रचनाओं के संबंध में लिखा है—

श्रवन नयन सम दुवउ कहेउ नृप रामचंद्र मुख ।

तेहि न अधिक भगरेउ न्याउ निव्वरेउ समुझि सुख ।

कवि कौतुक पथ भिन्न सुनहु समझहु हो पंच जन ।

बज्र तैं तिनु तिनु बज्र भवै कुछु कहै अण्णु मन ।

हठि लरेउ लोह कंचन तबहि मंगन दानि प्रसिद्ध पुनि ।

कोउ कहउत्र कुछु नरहरि निरखि करउँ कवितु हरि हेतु गुनि ॥१०२॥

सलीम, वीरसिंहदेव, दौलतखाँ, खानखाना, वाजिदखाँ, सैयद मुबारक (मुबारक) के पुत्र आदि की प्रशंसा उनके दान और वीरता के कारण की गई है। सैयद मुबारक के पुत्र ने एक कुआँ बनवा दिया। मुकुंददेव गजपति हो गए। वीरसिंहदेव, दौलतखाँ, वाजिदखाँ आदि बहुत बहादुर हैं। खानखाना अकबर के 'परम प्रवीण वजीर' हैं। हुमायूँ से सारी दुनिया थरती थी।

प्रशस्तिकारों के आश्रयदाताओं का ठीक ठीक पता तब चलता है जब वे एक के होकर रहते हैं। किंतु जब उनकी वृत्ति व्यभिचारी हो जाती है तब वे उसी का कीर्तिगान करने लगते हैं जिसने पैसा दिया, जिससे उनके प्रमुख आश्रयदाता का ठीक ठीक निर्णय करना कभी कभी कठिन हो जाता है। नरहरि के वंशजों की यही स्थिति दिखाई देती है। जेतसिंह ने अपने पूर्व-पुरुषों के आश्रयदाताओं का एक छंद में उल्लेख करते हुए कहा है कि नरहरि, हरिनाथ और मनीराम क्रमशः रुद्र, राय मंगद और राय कीरति के आश्रित थे। किंतु नरहरि ने किसी रुद्र के विषय में कुछ नहीं लिखा है। किसी मुकुंद को इन्होंने अपना आश्रयदाता अवश्य बताया है, जिसका उल्लेख पहले हो चुका है। हरिनाथ ने राय मंगद को रुद्र का पुत्र अवश्य कहा है^१, जिससे रुद्र का नरहरि का समकालीन होना कहा जा सकता है। किंतु जब तक नरहरि की रुद्र संबंधी कोई रचना न मिले तब तक यह नहीं कहा जा सकता कि नरहरि रुद्र के आश्रित थे। इसी तरह हरिनाथ के आश्रयदाता के विषय में भी पक्की बात नहीं कही जा सकती; क्योंकि इन्होंने बहुतों के दान और वीरता की प्रशंसा की है, जिससे इनका किसी के यहाँ जमकर रहना सिद्ध

१—देखिए हस्तलेख का एक सौ अष्टावनवाँ छंद ।

२—देखिए उसी का बासठवाँ छंद ।

नहीं होता। यह अवश्य है कि इनकी पहुँच बड़े बड़े दरबारों में थी। 'मिश्रबन्धु-विनोद' में लिखा है कि 'यह कवि शाहजहाँ बादशाह का कृपापात्र था।' शिवसिंह सेंगर कहते हैं कि 'ये महान् कवीश्वर जहाँ जिस दरबार में गए, लाखों रुपए-हाथी-घोड़े, गाँव-रथ-पालकी पाकर लौटे। ये श्री बांधव नरेश नेजाराम बघेले की प्रशंसा में एक दोहे पर एक लक्ष रुपए पाए। राजा मानसिंह सवाई आमेरवाले से दो दोहे पर दो लक्ष रुपए पाए।' इससे यह स्पष्ट है कि ये कभी किसी एक राजा के आश्रित होकर नहीं रहे, सर्वत्र घूमा करते थे। इनकी रचनाएँ भी यही संकेत करती हैं।

इन्होंने तीन मुगल बादशाहों का वर्णन किया है—अकबर, जहाँगीर और शाहजहाँ का। इनके अकबर संबंधी छंद कम हैं और जहाँगीर तथा शाहजहाँ संबंधी अपेक्षाकृत अधिक। अकबर संबंधी छंदों में सैन्य-प्रस्थान का वर्णन प्रधान है। जहाँगीर के वर्णन में इन्होंने बहुत सी ऐतिहासिक घटनाओं का भी उल्लेख किया है। नरहरि ने तो जहाँगीर को सदा सलीम के नाम से ही संबोधित किया है किंतु हरिनाथ ने उसके नूरदीन, जहाँगीर आदि अन्य नाम भी लिए हैं। हरिनाथ केवल दान और वीरता तक ही परिमित नहीं रहे बल्कि इन्होंने जहाँगीर के रूप, शासन-क्षमता, न्याय आदि की ओर भी दृष्टि रखी है। जहाँगीर के शासन की बड़ाई करते हुए ये कहते हैं कि जहाँगीर का राज्य रामराज्य है। सबको मनोनुकूल मनसब मिलते हैं, सारे शत्रुओं के राज्य छीन लिए गए हैं, सुख-संपदा से प्रजा अधा गई है। न्याय वह ऐसा करता था कि दूध का दूध और पानी का पानी हो जाता था। दानी वह ऐसा था कि सारे नृपतिगण उसी से दान पाकर दान करते थे। घरों से उनके निवासियों को तथा घाट और बाट के बटोहियों को बुलाकर मोहरों और रुपयों का मेह बरसाया जाता था। सूफी संत कुतुब और गौस भी इस यश के लिये लालायित रहते थे। नूरजहाँ के महल में आने पर जहाँगीर ने मुक्तहस्त हो दान किया था। नूरमहल, जो कुछ दिनों बाद नूरजहाँ कहलाई, जैसी रूपवती थी वैसी ही बुद्धिमती भी।

जहाँगीर का पुत्र परवेज चाहे गुणवान न रहा हो पर रूपवान तो था ही। अपने पिता के रूप से उसका रूप मिलता जुलता था। सूरज का नूर तो नूरुद्दीन मुहम्मद जहाँगीर में था और जहाँगीर का नूर परवेजशाह में।

१—दूसरा भाग (द्वितीय संस्करण), पृष्ठ ४२२।

२—'शिवसिंह-सरोज', सातवाँ संस्करण (सन् १९२६), पृष्ठ ५०५।

३—देखिए हस्तलेख का तिरानबेवों और पंचानबेवों छंद।

४—देखिए उसी का अद्दानबेवों और निन्यानबेवों छंद।

प्रशस्तिकाव्य में इतिहास की सामग्री

१३५

शाहजादा खुर्रम (शाहजहाँ) चाहे राज-लोभ से अपने भाइयों के प्रति क्रूर रहा हो और सदा उनका अहित ही चाहता रहा हो किंतु परवेज ऐसा नहीं था। खुर्रम के विद्रोही हो जाने पर वही सम्राट् होनेवाला था। बादशाही सेना लेकर उसने खुर्रम को दक्षिण में परास्त भी कर दिया था; किंतु परवेज ने उसे अपना बड़ा भाई समझकर जहाँगीर से अनुरोध करके छुड़वा दिया।^१ वह अपने पिता को ईश्वर से कम नहीं समझता था।^२ परवेज ने चाहे दक्षिण में अपनी बुद्धिमत्ता न दिखाई हो, किंतु जौनपुर की लड़ाई उसी की सिपहसालारी में जीती गई। दक्षिण में मलिक अंबर को बुरी तरह हराया ही था।^३ एक ओर तो परवेज इतना सहृदय था, दूसरी ओर शाहजहाँ ने अवसर देखकर अपने भाइयों—परवेज और शहरयार—का सफाया कर आसफख़ाँ की सहायता से दिल्ली का सिंहासन हस्तगत कर लिया।^४

अकबर के समय से ही बंगाल में बड़े बड़े उपद्रव होते रहते थे। पठानों का सरदार उसमान इन उपद्रवों का नेता था। संवत् १६५६ में राजा मानसिंह ने उसका दमन किया था। परंतु जहाँगीर के समय में वह फिर विद्रोही हो गया। राजा मानसिंह ही इसे दबाने में समर्थ थे, हरिनाथ ने जिसके लिये इनकी बहुत प्रशंसा की है। कासिमख़ाँ और भावसिंह ने इस कार्य में जैसी वीरता दिखाई थी उसे भी हरिनाथ नहीं भूले हैं। कासिमख़ाँ के लिये ये लिखते हैं—

हाथ बाइ बेसनि अपेठी के उठाइ दिए गोत बछुगोतिन को चितवत ओर भो।

तेरे दोर विचलि बघेल पेठो विधिघन काटेन सों अटकि उज्जुद कोर कोर भो।

सरहद सर करिवे कों सेल कासिम ख़ाँ सारी पातिसाही न सिपाही तौसे ओर भो।

पूरव पचारि उसमान सो गनीम मार्यो जाके मारे दागी अगवान बिन जोर भो ॥४७॥

भावसिंह और उसमान का युद्ध तारापुर में हुआ था। इसकी भीषणता का वर्णन कई कवियों ने किया है। हस्तलेख के अंतिम पन्नों के फटे होने से इस युद्ध संबंधी छंद सात छंद अपूर्ण उपलब्ध हैं। एक चरण भी किसी छंद का पूरा नहीं मिलता। उन टूटे हुए चरणों से ही युद्ध का आभास मिलने से और उसमान, तारापुर तथा भावसिंह के नाम से ही तारापुर के युद्ध का निर्णय किया गया है। कवि गंग ने तारापुर के युद्ध का वर्णन यों किया है—

१—देखिए उसी का एक सौ आठवाँ छंद।

२—देखिए उसी का एक सौ छठा छंद।

३—देखिए उसी का एक सौ दूसरा छंद।

४—देखिए उसी का तिहत्तरवाँ छंद।

तारापुर प्रबल पठान भूमि भारी भीर, भीम सम भिरो रन भावसिंह मिरजा ।
 भभकि भभकि घाय कूप सो भरत घट भारी भारी बीर मारे रन पाइ सिरजा ।
 लोहू की नदीन गंग हाथी धारा लोथ बहै जोगिनी से जोगिनी पुकारै पार तिर जा ।
 हीरन के हार वर वारती बरंगना, लै मुंडमाल हर, गजमोती लै लै गिरजा ॥

तारापुर के युद्ध के समय दोनों कवियों—गंग और हरिनाथ—का होना संभव है; इस पर गंग संबंधी प्रबंध में विचार किया जायगा । यहाँ इतना ही जान लेना अलं है कि यदि यह युद्ध मानसिंह के समय में हुआ हो तो यह घटना संवत् १६५६ के पहले की है और यदि जहाँगीर के समय में हुआ हो, जिसमें उसमान मारा गया था, तो इसका समय संवत् १६६६ के पूर्व है ।

जयपुर का राजवंश मुगलों का सबसे अधिक सहायक था । राजा मानसिंह तो मुगल साम्राज्य के प्रधान स्तंभों में से थे । वैसे ही इनकी प्रतिष्ठा और धाक भी किसी से कम नहीं थी । इन्होंने मुगलों का साथ तो दिया ही था, इनके बाद भी भावसिंह, महासिंह और जयसिंह ने भी अपनी पुरानी परंपरा नहीं छोड़ी । मुगल साम्राज्य के लिये बंगाल के पठान बहुत बड़े कंटक थे । स्यात् इसी से मुगल-सेना के सबसे कुशल सेनानी मानसिंह ही वहाँ के सूबेदार बनाए गए थे । बंगाल के धनधान्यसंपन्न होने के कारण इन्होंने वहाँ अत्यधिक ऐश्वर्य उपार्जन भी किया था । मानसिंह के मरने के बाद भावसिंह और महासिंह भी यहीं रहते थे । भावसिंह की ही भाँति महासिंह ने भी एक बार ब्रह्मपुत्र नदी के किनारे पठानों को बुरी तरह परास्त किया था । ये बघेलों और दक्षिणियों से भी लड़ चुके थे । गोलकुंडा के मलिक अंबर के आक्रमण को भी इन्होंने रोका था और वाकीखाँ की सेना को खदेड़ कर पीछे कर दिया था । अपनी विशाल सेना के सहारे अंबर के देश में कत्लेआम मचा दिया था । चक्रवर्ती राजा भी जिन बघेलों की शरण में जाते थे उन्हें भी महासिंह ने दबा दिया था । महासिंह के पुत्र जयसिंह भी किसी से कम न थे । दक्षिण के युद्ध में इन्होंने जहाँगीर की प्रतिष्ठा रख ली थी । कवियों के लिये तो ये कल्पवृक्ष थे ।

जुम्हारसिंह जेनखाँ का साथ छोड़कर विपक्षियों से मिल गए थे । इस कारण जेनखाँ ने सामना होने पर इन पर ऐसा प्रहार किया कि इनका सिर धड़ से अलग हो गया । यह घटना शाहजहाँ के समय की है । इतिहास में लिखा है कि जुम्हारसिंह को जंगल में गोड़ों ने मार डाला था, जो हरिनाथ के कथन से बिलकुल नहीं मिलता ।

१—देखिए उसी का एक सौ चालीसवाँ छंद ।

२—देखिए उसी का एक सौ तिरपनवाँ छंद ।

३—देखिए उसी का पचासवाँ छंद ।

प्रशस्तिकान्य में इतिहास की सामग्री

१३७

हरिनाथ ने शाहजहाँ की भी बहुत प्रशंसा की है। इसे कर्ण सा दानी ही नहीं कहा बल्कि पूर्ववर्ती सभी मुगलों से बढ़कर भी बताया। शाहजहाँ ऐसा दानी था कि उसके दान के आगे मकुंद राय की कलम भी कुंद पड़ गई। इसने दीपक के नीचे का अंधकार तक दूर कर दिया था। इसने बीजापुर, निजाम, कर्णाटक आदि देश जीत लिए थे। इसने बहुत बड़े बड़े युद्ध जीते थे और साथ ही अनेक कठिनाइयों का सामना भी किया था। एक युद्ध में तो इसकी जान पर ही आ बनी थी, तब किसी सिपहसालार नवाब ने इसकी रक्षा की थी। मुदफरखाँ इसके दरबार के चिराग थे। भदावर-नरेश आगरे की रखवाली वैसे ही करते थे जैसे काशी की रखवाली भैरव करते हैं। बिहारी-दास ऐसे वीर थे कि उन्हें देखकर अब्दुल्ला ने भी हार मान ली थी और युद्ध बंद कर दिया था। महावतखाँ ने ही शाहजहाँ का विद्रोह दबाया था और उसने बहुत बड़े बड़े युद्ध किए थे। शेरखाँ इतने ईमानदार थे कि परवेज के लिये अपने भाई से भी युद्ध करने को प्रस्तुत रहते थे। इनके अतिरिक्त हरिनाथ ने भी बहुत से लोगों का गुणगान किया है। उनमें से कुछ लोगों के नाम ये हैं—

दुर्जनसिंह, गरीब राय, गोवर्धन राय, गजाधर राय, सुंदर राय, जादव राय, रायसिंह, जहाँगीर कुलीखाँ, आजमखाँ, राजा मुकुटमणि, नानू राना, खानजहाँ लोदी, मारवाड़ के राजा, मधुकर के पुत्र, रामदास, कालूराम, हरसिंह आदि।

हरिनाथ के समय के विषय में शिवसिंह ने अपने 'सरोज' में लिखा है—'सं० १६४४ में ८०'। इसे १६४४ संवत् ही मान सकते हैं, सन् नहीं। ऊपर नरहरि का जन्म संवत् १५७५-७६ के करीब माना गया है। यदि पचीस वर्ष की अवस्था में नरहरि को पुत्रलाभ होना मान लें तो करीब

१—देखिए उसी का एक सौ चौथा छंद।

२—देखिए उसी का एक सौ छब्बीसवाँ छंद।

३—देखिए उसी का एक सौ बारहवाँ और एक सौ अठारहवाँ छंद।

४—देखिए उसी का चौसठवाँ छंद।

५—यहाँ यह स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि हस्तलेख के क्षतिग्रस्त हो जाने के कारण हरिनाथ की रचना के बहुत से छंद लुप्त हो गए हैं तथा कुछ (लगभग ६०) छंद खंडित हो गए हैं। राजा मानसिंह, भावसिंह, उदयपुर के राणा, कालूराम, हरसिंह आदि विषयक छंद इन्हीं खंडित छंदों में हैं।

६—सातवाँ संस्करण (सन् १९२६), पृष्ठ ५०५।

१६०० के लगभग हरिनाथ का जन्म हुआ होगा। इस तरह संवत् १६४४ तो बहुत दूर का कविता-काल हो जायगा। लोग प्रायः पचीस वर्ष की अवस्था से कविता-काल मानते हैं।^१ इस तरह संवत् १६२५ के लगभग इन्होंने कविता करनी आरंभ की होगी। इन्होंने अकबर का वर्णन किया ही है। राजा मानसिंह ने संवत् १६५६ में पठानों को दवाया, उसका उल्लेख इनकी रचनाओं में है ही। उदयपुर के राणा से संबद्ध घटनाओं का उल्लेख भी राजा मानसिंह के साथ हुआ ही है।^२ 'मिश्रबंधु-विनोद' में दिया हुआ इनका कविता-काल संवत् १६६० इनके रचनाकाल के अंत के आसपास का समय कहा जा सकता है, क्योंकि शाहजहाँ से संबंध रखनेवाले छंद तो मिलते हैं किंतु हरिनाथ का उसके पुत्रों से संबद्ध एक छंद भी उपलब्ध नहीं है और न शाहजहाँ के शासनकाल के अंत की घटनाओं का ही उल्लेख मिलता है। इस संग्रह के देखने से तो ऐसा जान पड़ता है कि हरिनाथ शाहजहाँ के सामने ही परलोकवासी हो चुके थे।

हरिनाथ के पुत्र मनोराम की रचनाओं में शाहजहाँ के शासन-काल के मध्य के बाद की घटनाओं और नामों का उल्लेख मिलता है। किंतु इनकी रचना हरिनाथ की अपेक्षा ऐतिहासिक घटनाओं से कम संबद्ध है। द्रव्य का लोभ इनमें अधिक दिखाई देता है। शाहजहाँ के लिये ये लिखते हैं कि अकबरशाह इन्हें उठकर लेते थे^३। इनकी बेगमें और पुत्रियाँ अत्यधिक सुंदरी थीं। नौरोज में स्त्रियाँ इन्हें खूब रिझाती थीं। ये कुरान के अनुगामी तथा लोकोपकारी भी थे। इसी से ईश्वर ने इन्हें बादशाह बनाया। 'दिसि दच्छिन दुलहिया' को इन्होंने व्याह लिया था, जिससे इनकी कीर्ति समुद्र के छोर तक पहुँच गई थी। इनसे सिंहली इसलिये डरते थे कि कहीं राम की तरह सेतु बाँधकर ये इस पार न उतर आएँ। इनकी राजसभा का ठाट देखने के लिये नृपतिगण लालायित रहा करते थे। यमुना के किनारे इन्होंने सोने से मड़ा हुआ एक महल बनवाया था जो बड़ा ही सुंदर था। 'शाहजहाँनावाद' त्रिलोक से न्यारा चौथा लोक ही था। इनके समय में अलगार का झगड़ा सुनकर नजरमुहम्मद ने बलक पर चढ़ाई कर दी थी। शाहजहाँ ने आक्रमण करके बलक और खंधार दानों इससे जीत लिए थे। मनोराम ने इस लड़ाई की तिथि इस प्रकार कही है—

१—देखिए 'मिश्रबंधु-विनोद' की भूमिका, प्रथम भाग (चतुर्थ संस्करण), पृष्ठ ५।

२—दूसरा भाग (द्वितीय संस्करण), पृष्ठ ४२२।

३—देखिए हस्तलेख का इक्कीसवाँ छंद।

४—देखिए उसी का तिहत्तरवाँ छंद।

प्रशस्तिकाव्य में इतिहास की सामग्री

१३६

सफर की तारीख अठारही में गुरुवार साधे को पछाह नरनाह उर आन्यो हे ।
एकु हे महस सन छप्पन अधिक गुनु किला लावे को हे पनु रहे मन मान्यो हे ॥
साहिजहाँ पातिसाहि अलगार आधो सुनि नजर मुहम्मद यो भभरि भगान्यो हे ।
जमदिलौलि अठाइसी तेरीख भई जुमाराति ता दिन बलकलीन्ही जगत में जान्यो हे ॥१६॥

शाहजहाँ का पुत्र दाराशिकोह बहुत दयालु था । वह दान खूब करता था, दुःखियों का कष्ट दूर करने में सदा तत्पर रहता था । उसकी तलवार की धाक रूम और साम तक थी । विदेशी उसका लोहा मानते थे । सारा देश उससे प्रसन्न था । बादशाह भी उसे ही चाहता था । शाहजहाँ का दूसरा लड़का मुराद भी वीर और दानी पुरुष था । शाहजहाँ के सिपह-सालार सैयद मिर्जा मुदफर हुसैन तथा उनके भाई मोर बाबा दोनों ही बहुत मिठबोले थे । जिसका जो काम अटकता था, मुदफर हुसैन उसका वह काम सहूलियत से करा देते थे । जैसे ये दानी थे वैसे ही भगवान् ने इन्हें राजनीति में तीव्र बुद्धि भी दी थी ।

द्रव्य की ओर विशेष दृष्टि होने के कारण इन्होंने दान की ही प्रशंसा अधिक की है । राजाओं को वीर कह देना कोई विशेषता नहीं रखता, स्वपदेन वे वीर कहे ही जाते हैं । ऐसा प्रतीत होता है कि कभी कभी द्रव्य न मिलने पर मनीराम बिलकुल निराश हो जाते थे । एक छंद में निराश होकर ये ईश्वर से प्रार्थना करते हैं कि अब मैं किसी के यहाँ माँगने न जाऊँगा । ये कभी शाहजहाँ के यहाँ से हटकर पूरब के हिम्मतसाहि के आश्रय में चले गए थे, जिनकी प्रशंसा में इन्होंने 'दानसत्त का वाद' लिखा है और उसमें कहा है कि अब दिल्ली में बादशाह नहीं रहते । मकुंदराय माथुर की प्रशंसा इनके पिता हरिनाथ ने भी की है और इन्होंने भी, किंतु मनीराम ने तो उसकी हद कर दी है । ये कहते हैं कि मकुंदराय का एहसान सब राजाओं पर है; कलम के तो ये धनी हैं ही; स्वयं तो ये दान देते ही हैं शाह से भी दिलाते हैं ।

वीरता के वर्णन में बहुतों को गनीमों का मारनेवाला बताया गया है । नौबतखाँ ने किसी राजपूत को एक ही गदा में मार गिराया और उस समय तख्त की रक्षा की जब लाखों सिपाही भी काम न आ सकते थे । इनके लड़के नसीरखाँ ने भी एक गनीम मारा था । आसफखाँ भी इस यश से खाली नहीं थे । जिन लोगों का वर्णन मनीराम ने किया है उनके नाम निम्नलिखित हैं—

जयसिंह, रामसिंह, बिठ्ठल नरेस (राजा बिठ्ठलदास गौड़), मकुंदराय माथुर, मंगद राय, जादव राय, रघुनाथ माथुर, शोभासिंह भदावरी, सबुसाल, जुगराज, पृथ्वीराज, बलीसाल, किमुनसाहि, मुरारी महता के

सदारंग, बिट्टल नरेश के पुत्र अनिरुद्ध तथा अर्जुनसिंह, राजा जयराम के पुत्र अमरसिंह, जगतसिंह, रूपसिंह, मित्रसेन, महिमा महीप, गोपालदास के पुत्र, शाहजहाँ, दाराशिकोह, मुरादबक्स, पिरोजखाँ, जाफरखाँ, फिदाईखाँ, जमसेर सिपहसालार, मुदफरहुसेन सिपहसालार, मिर्जा सैफुल्ला, मीर बाबा, आसफखाँ, मिर्जा मोतलिव साहिब, सैयद जलाल, तरबीयतिखाँ, फत्तेखाँ, इरादतिखाँ (इनको शाह से पदवी मिली थी), निजावतखाँ (शाह के भाई), जहाँखाँ, हिम्मतसाहि, बाकरखाँ, मोतमतिखाँ और अशरफखाँ ।

मनीराम की रचना से एक बहुत ही महत्त्वपूर्ण बात प्रमाणित होती है, इतिहासकार जिस पर विश्वास नहीं करते । वह है अमरसिंह राठौर के वध की बात । इतिहासकारों का कहना है कि वे शाहजहाँ के दरबार में युद्ध करते हुए मारे गए । किंतु कवियों के वधनानुसार उन्हें धोखे से मारा गया । साथ ही अमरसिंह के तलवार खींच लेने पर कैसी भीषण स्थिति उत्पन्न हो गई, इतिहासकार इसका उल्लेख नहीं करते, किंतु कवि लोग इसका वर्णन बहुत विस्तार से कर गए हैं । अब तक जितने वर्णन मिलते रहे हैं उन सबके कर्ताओं पर अमरसिंह राठौर के समर्थक होने का दोष लगता रहा है; किंतु मनीराम का वर्णन मिल जाने से स्थिति बिल्कुल विपरीत हो गई है । मनीराम अमरसिंह के प्रशंसक नहीं थे बल्कि उनका वध करनेवाले खलीलुल्लाखाँ के प्रशंसक थे । इसलिये इनका कथन पक्षपातपूर्ण नहीं कहा जा सकता । मनीराम खलीलखाँ (खलीलुल्लाखाँ) की प्रशंसा में कहते हैं—

सलावति खान् बात सुनत न सहि सक्यो सरकि के जमधर उर बीच दीन्ही हे ।
निदर चलयो तो तहाँ खगु ले खलीलखान् ख्याल ही सों मर्यो सूरताई साहि चीन्ही हे ।
ऐसे एक घाय में हायलु भो अमरसिंह तेरी मुही ओर न करोली ऐसी कीन्ही हे ।
जैसे हने नाहर कों साहिबु सिकार बीच पीछे तें सिकारी तलवार करि लीन्ही हे ॥२०॥

सिंह का पीछे से शिकार और 'ख्याल ही सों मर्यो सूरताई साहि चीन्ही हे' स्पष्ट बता रहे हैं कि अमरसिंह को धोखे से अन्यायपूर्वक मारा गया । यह तो हुई उनके वध की बात । अब देखिए अमरसिंह के जमधर निकालने से दरबार में कैसा आतंक छा गया था । रघुनाथ कवि का छंद है—

काली की सी डाढ़ जमडाढ़ काटै करवर देख्यौ नर नाहर कै रूप नरनाह जू ।
लोह कै पहार माँझ कोट कै अमरसिंह एक एक घाय हनी सकल सिपाह जू ।
केतक हजारी मारे संग के सँघाती मारे छेक्यो छत्रधारी पै सुधारी हिंदुराह जू ।
दाल की पनाह ना दिवाल की पनाह एक नौन की पनाह बचे आलमपनाह जू ॥

प्रशस्तिकाव्य में इतिहास की सामग्री

१४१

इन वर्णनों को मनीराम के निम्नलिखित वर्णन से मिलाइए—

सहस्रनि साहसी सिपाही सब देखि रहे तिनहूँ सराह कीन्हीं तेरे मुजबरी की ।
आगे हैं अमरसिंघ आलमपनाह आगे मान्यो बकसो को भाई भारी भूमि डर की ।
सुनत सुखन सरक्यो न सूर कोऊ जहाँ तहाँ समसेर दोरि अरि सिर सरकी ।
साहिब खलील खौँ सराहौँ तोहि कहाँ लगु साहि को हुकुम कि सिताबी तेरे कर की ॥३८॥
अब देखिए कि बनवारी, रघुनाथ आदि कवियों के कथन में कितनी सत्यता है । भरी राजसभा में तलवार खींच लेने की ऐसी असाधारण घटना का समाचार जनता में कितनी शीघ्रता से फैल जाता है, यह आज के संसार में किसी से छिपा नहीं है । प्राचीन समय में, जब राजभय अब से कई गुना अधिक था, इस घटना की प्रतिक्रिया जनता में कैसी हुई होगी, इसका अनुमान कोई भी कर सकता है । दूसरे छंद में रघुनाथ कवि इसका भी वर्णन करते हैं—

काहू महाकाल देख्यो काहू विकराल देख्यो जैसे प्रलैकाल होत मूरति महेस की ।
साहि के समीप रघुनाथ महाभारथ कौँ पारथ तैं कछू करवृति तौ बिसेस की ।
काहू तौ तिरीछैं काहू पीछैं आइ करै घाइ कौन समुहाइ ऐसी कौन उमहेस की ।
घर घर गैल गैल घाट घाट बाट बाट देस परदेस बात राउ अमरेस की ॥

जब कोई असाधारण घटना घटती है तब उसके विषय में तरह तरह की बातें लोक में सुनने में आती हैं । कोई आश्चर्य प्रकट करते हुए कहता है कि 'शाहजहाँ कहे यार सभा माँहि बार बार अमर की कमर में कहाँ की कटारी थी', कोई यह कहता दिखाई देता है कि 'पाव सेर लोहे से हलाई सारी पातिसाही होती समसेर तो छिनाय लेतो आगरो ।'

इस प्रकार के न जाने कितने प्रसंगों और उक्तियों की उद्भावनाएँ कवि लोग किया करते हैं और अपने हृदय के भाव भाषावद्ध करते रहते हैं । उनकी वाणी लोकवाणी होकर उनकी रचनाओं में व्यक्त होती रहती है । इतिहास के लिये जिस प्रकार घटनाएँ उपयोगी होती हैं उसी प्रकार लोकभावना भी । किसी विशेष घटना के संबंध में यदि कोई तत्कालीन लोकमत जानना चाहता है तो उसे कवियों के अतिरिक्त दूसरा कोई ऐसा न मिलेगा जो सच्चे रूप में सब बातें बता सके । वे राष्ट्र का राजनीतिक इतिहास लिखने नहीं बैठते, वे राष्ट्र की उस भावना का इतिहास लिखने बैठते हैं जो राजनीतिक घटनाओं के विषय में लोक में छाई रहती है । प्रशस्तिकाव्यों में इसी की महत्ता है ।

वर्तमान कविता के आविर्भाव-काल की परिस्थितियाँ

डाक्टर केसरीनारायण शुक्ल एम० ए०, डी० लिट्०

भारत में सर्वतोमुखी जागृति का संचार करनेवाली ईसा की उन्नीसवीं शती अपने अंतिम दशक में पहुँच गई थी। हिंदी भाषा-भाषी प्रांतों की सामाजिक चेतना को ही नहीं वरन् समग्र देश की सामाजिक भावना को नव स्फूर्ति देनेवाली संस्था की स्थापना स्वामी दयानंद सरस्वती द्वारा सन् १८७५ में हो गई थी। राष्ट्र की राजनीतिक चेतना के प्रसार और प्रचार के लिये कांग्रेस का जन्म सन् १८८५ में हो चुका था। विक्टोरिया के राज्याभिषेक और ईसा की बीसवीं शती के आरंभ के बीच चार भयंकर दुर्भिक्ष (सन् १८३७, १८५७, १८७७, १८९७ में) पड़ चुके थे। ऐसा सुअवसर पाकर मिशनरियों ने ईसाई धर्म की अच्छी खेती की और अपना खलिहान भरा। सन् १८७७ और सन् १९०० में ईसाई मिशनरियों ने राजपूताने में अधिकाधिक संख्या में लोगों को ईसाई बनाया। इन दुर्भिक्षों से जनता का ध्यान अपनी आर्थिक दुरवस्था और उसके कारणों की ओर बरबस गया। कठोर परिस्थितियों के आघात से ब्रिटिश शासन के 'तार रेल परभास' और 'गैसादिकन' से जनता को जो चकाचौंध हुई वह कुछ कम हो गई थी। कवि भी अब राजभक्ति के प्रदर्शन के लिये उतने व्याकुल न थे और ब्रिटिश राज्य की प्रशंसा का स्वर कुछ मंद पड़ गया था।

राजनीतिक परिस्थिति

बात यह थी कि विक्टोरिया की समान व्यवहार की घोषणा और सन् १८५७ की क्रांति के अनंतर भारत के शासन की बागडोर पार्लमेंट के हाथ में जाने से देशवासियों को जो आशा बँधाई गई थी वह कार्यान्वित होती नहीं दिखाई पड़ रही थी। ज्यों ज्यों कांग्रेस के प्रभाव का प्रसार हुआ त्यों त्यों सरकार का विरोध भी बढ़ता गया। यद्यपि १८८६ के कांग्रेस के प्रतिनिधियों को लार्ड डफरिन ने कलकत्ते में दावत दी थी तथापि अधिकांश कारियों के विरोध के कारण सन् १८८८ के प्रयाग-अधिवेशन के लिये स्थान मिलना कठिन हो गया था। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि उस समय राजनीतिक वातावरण शांत और प्रसन्न नहीं रह गया था और अंतरिक्ष में संदेह और संशय के बादल उठते हुए दिखाई पड़ रहे थे। सन् १८९३

वर्तमान कविता के आविर्भाव काल की परिस्थितियाँ १४३

के अनंतर विरोध और संदेह उत्तरोत्तर बढ़ता ही गया। फलतः भारतेंदु-युग के साहित्य की राजभक्ति का स्वर मंद होते होते एकदम लुप्त हो गया और द्विवेदी-युग के साहित्य में उसका प्रायः अभाव है।

राजभक्ति के क्रमशः अभाव से यह न समझना चाहिए कि देश के नेता ब्रिटेन से संबंध-विच्छेद के लिये तत्पर थे। नेताओं को केवल असंतोष था, उनको अधिकारियों की नेकनीयती और ईमानदारी पर अविश्वास नहीं था। वे भारत के लिये ब्रिटिश शासन हितकर समझते थे। साहित्य में श्री प्रेमघन 'ईश कृपा अंग्रेज राज पायो सुखदानी' कहते थे और स्वर्गीय श्री गोखले 'सर्वेंट्स आव् इंडिया सोसायटी' के विधान में 'ब्रिटेन के संबंध को भारत के हित के लिये ईश्वर की अभेद्य इच्छा की प्रेरणा कह रहे थे।' भारतेंदु हरिश्चंद्र लार्ड लिटन के 'आर्म्स ऐक्ट' और 'प्रेस ऐक्ट' द्वारा अपमानित होने पर अपना आश्चर्य राजभक्ति की दुहाई देकर प्रकट कर रहे थे—

सबहिं भौंति नृप-भक्त जे भारतवासी लोक।

शास्त्र और मुद्रण विषय करी तिनहुँ की रोक॥

और 'बनर्जी महाशय ने यह कहकर उसका विरोध किया था कि इससे भारतीयों की राजभक्ति पर धब्बा लगता है।'²

यह होते हुए भी विरोध उग्रतर होता जा रहा था और नेताओं की माँगें ठुकराई जा रही थीं। सन् १८६२ की सुधार की सरकारी योजना अपर्याप्त थी। गोखले की पार्लमेंट में भारतीय प्रतिनिधियों की माँग अररयरोदन सिद्ध हुई। जनता की इस भावना तथा असंतोष का प्रतिबिम्ब श्री प्रेमघन की रचनाओं में मिलता है। श्री बालमुकुंद गुप्त भी अपनी रचनाओं में 'इलेक्टिव सिस्टम' के लिये कहते रहे। 'लैंसडाउन के समय तक सरकारी नीति (सुधार से) शुद्ध तटस्थता की हो गई थी।'³ श्री श्रीनिवास शास्त्री को यह कहना पड़ा कि 'अफसर शीघ्र ही विरोधी हो गए और कांग्रेस के पथ में

१—इट्स मेंबर्स प्रैक्ली एक्सेप्ट दि ब्रिटिश कनेक्शन, ऐज आर्डेड, इन दि इंस्कुवेबुल डिस्पेंसेशन आव् प्रोभिडेंस फार इंडियाज गुड। (इन दि प्रीयंबुल आव् एस० आइ० सोसायटी कांस्टिट्यूशन लेड बाइ गोखले)।

२—आचार्य नरेंद्रदेव।

३—बाइ दि टाइम वी रीच दि वायसरायल्टी आव् लार्ड-लैंसडाउन वी फाइंड गवर्मेंट टेकिंग अप ए डिस्टिंक्ट नाट टु से फ्रिजिड ऐटिट्यूड आव् करेक्ट नेचुरलिटी। (रिनासेंट इंडिया बाइ जी० एच० सी० जैकोबी, पेज ११५)।

बाधाएँ डालने लगे ।^१ लार्ड रिपन के उत्तराधिकारी के शासन में 'पुराना रंग ढंग आ गया और गंभीर सुधार की समस्त आशाएँ समाप्त हो गई' ।^२ ब्रिटिश शासन को ईश्वर की रहस्यमयी इच्छा माननेवाले नरम दल के नेता स्वर्गीय श्री गोखले को सन् १९०६ के कांग्रेस के सभापति के आसन से यह कहना पड़ा कि 'शिक्षित वर्ग को यह साफ दिखाई पड़ता है कि सरकार स्पष्टतया स्वार्थी होती जा रही है और उनकी राजनीतिक अभिलाषाओं की खुले तौर पर विरोधी है ।'^३

देशवासियों की बढ़ती हुई असंतोष और संदेह की आग में कर्जन की अनुदार और अपमानजनक रीति-नीति ने आहुति का काम किया । उसकी सन् १९०५ की वंग-भंग की योजना से जनता की रोषाग्नि प्रज्वलित हो उठी और सरकारी नीति के प्रतिरोध और प्रतिकार के लिये एक विराट् आंदोलन उठ खड़ा हुआ । 'स्वदेशी और बायकाट की धूम मच गई' ।^४ देशभक्ति की लहर भारत के एक कोने से दूसरे कोने तक फैल गई । जनता वस्तुओं को स्वयं बनाकर आत्मावलंबी बनने की चेष्टा करने लगी । वंदेमातरम् के पवित्र मंत्र से भारत प्रतिध्वनित हो उठा । इस समय के असंतोष, क्षोभ, देशभक्ति, आत्मसंमान और मातृभूमि के लिये बलिदान की भावना की सुंदर व्यंजना श्री बालमुकुंद गुप्त की रचनाओं में हुई है । श्री बालमुकुंद गुप्त के काव्य में देश-दशा का अच्छा चित्रण मिलता है । वंग-भंग के बाद कांग्रेस के नरम दल और गरम दल के बीच सूरत कांग्रेस (सन् १९०७) में झगड़ा हो गया । देश के कर्णधारों के बीच बढ़ते हुए मतभेद से जनता बड़ी खिन्न हुई । स्वर्गीय श्री रामचंद्र शुक्ल की रचनाओं में इस समय का संकेत और लेखक की उदार भावना का अच्छा परिचय मिलता है । अंत में श्रीमती एनीबेसेंट के उद्योग से दोनों दलों में एकता हो गई ।

धीरे धीरे हिंदू और मुसलमान के बीच एकता का सूत्रपात हुआ । सन् १९११ में एकता के लिये हिंदू मुसलिम कांफरेंस हुई, जिसमें वेडरबर्न,

१—आफिसियल्स सून बिकेम ब्रास्टाइल एंड थ्रू आब्टैकल्स इन दि वे आव् कांग्रेस । (वही) ।

२—थिंग्स लैप्ड इनटू ओल्ड फ्रेम एंड आल होप्स वैनिशड आव् सीरियस रिफार्म । (वही, पेज ११६) ।

३—दि एजुकेटेड क्लासेज...नाउ सी क्लीयरली दैट दि (ब्रिटिश) न्यूरो-क्रेसी इज ग्राइंगली फ्रेंड सेल्फिश एंड ओपेन्ली अपोज्ड टु देशर पोलिटिकल अस्पिरेशंस ।

४—आचार्य नरेंद्रदेव ।

वर्तमान कविता के आविर्भाव काल की परिस्थितियाँ

१४५

बनर्जी और रहमतुल्ला जैसे प्रतिभाशाली व्यक्ति उपस्थित हुए थे। सन् १९१३ में मुसलिम लीग का उद्देश्य परिवर्तित होकर 'अन्य जातियों के साथ औपनिवेशिक स्वराज्य की प्राप्ति' हो गया, हिंदू और मुसलमानों में मैत्री बढ़ने लगी। 'मुसलमान भी यह समझने लगे कि यदि हिंदू मुसलमान एक साथ मिलकर कार्य करें तो देश की राजनीतिक उन्नति सुगमता से हो सकती है'। 'सन् १९१६ में कांग्रेस और मुसलिम लीग की ओर से संयुक्त माँग पेश की गई'। हिंदू और मुसलमान में मैत्री भाव की व्यंजना काव्य में भी हुई है। सर्व श्री राय देवीप्रसाद 'पूर्ण', बालमुकुंद गुप्त, रूपनारायण पांडेय, रामनरेश त्रिपाठी आदि कवियों ने देशहित के लिये एकता तथा भ्रातृभाव के महत्त्व का गान किया है।

देश का संघटन हुआ और लोग समझ गए कि स्वतंत्रता की भीख नहीं मिलती वरन् उसके लिये मर मिटना होता है। पंडित मदनमोहन मालवीय के प्रस्ताव के समर्थन में भारतवासियों का आह्वान करते हुए स्वर्गीय लाला लाजपत राय के निम्नलिखित वचनों का महत्त्व देशवासी अच्छी तरह समझ गए थे—'(भारत को) अब भिक्षुक बनकर कृपा के लिये गिड़गिड़ाते हुए संतुष्ट न रहना चाहिए, क्योंकि यदि उन्हें सचमुच अपने देश की चिंता है तो स्वतंत्रता के लिये उन्हें स्वयं प्रहार करना पड़ेगा'। सन् १९१६ में 'होमरूल लीग' की स्थापना हुई और देश में आंदोलन आरंभ हो गया। इसकी व्यापकता के साथ दमन का चक्र भी वेग से चला। सन् १९१४ में योरोपीय महासमर आरंभ हुआ। इसके कारण देश में बहुत अशांति थी। इसका प्रभाव काव्य पर भी पड़ा।

इस योरोपीय महासमर के उपरान्त सरकारी दमनचक्र और स्वतंत्रता के राष्ट्रीय आंदोलनों का इतिहास ही देश का इतिहास बन गया है। जीवन, विचारधारा और साहित्य पर इनका व्यापक प्रभाव स्पष्ट रूप से दृष्टिगोचर हो रहा है। १८ मार्च सन् १९१६ में 'रौलट ऐक्ट' पास हुआ और महात्मा गांधी ने इसके विरोध के लिये सत्याग्रह की प्रतिज्ञा ली। १३ अप्रैल सन् १९१६ को जलियाँवाला बाग का हत्याकांड हुआ। इसके बाद सन् १९२१ में असहयोग आंदोलन चला। कांग्रेस की बढ़ती हुई शक्ति को देखकर सरकार व्याकुल हो उठी। इस समय से कई आंदोलन चले, जिनमें से

१—आचार्य नरेंद्रदेव ।

२—लाला लाजपत राय काल्ड अपान इंडिया 'नो लॉगर टु बी कनटेंट टु बी बेगर्स हीमिंग फार फेवर्स, फार इफ दे रियली काल्ड फार देयर कंद्री दे उड हैव टु स्ट्रक ए ब्लो फार फ्रीडम फार देमसेल्स ।'—रिनासेंट इंडिया, पेज १४४।

‘सविनय अवज्ञा’ का आंदोलन प्रमुख था। कांग्रेस मंत्रिमंडल की स्थापना से वातावरण कुछ शांत हुआ था और लोगों को देश की उन्नति के संबंध में कुछ कुछ आशा बँधी थी, परंतु इसी बीच फिर देश ‘व्यक्तिगत’ आंदोलन के लिये विवश हुआ। द्वितीय योरोपीय महासमर के छिड़ जाने से देश में व्यापक अशांति थी और अभी है। लोकप्रिय कांग्रेस नेताओं के जेल में बंद होने के कारण भारत अत्यंत लुब्ध हो उठा था। अब इनकी रिहाई हो चुकी है। कई प्रांतों में कांग्रेस मंत्रिमंडल भी पुनः स्थापित हो चुका है।

कुछ कवियों ने इन आंदोलनों में सक्रिय योग दिया और बहुतों ने मातृभूमि की स्वतंत्रता के लिये देशवासियों का आह्वान किया। इस समय के गीतों में भावात्मकता का आवेग और सत्यता का अतिरेक है। सत्य और अहिंसा से अनुप्राणित होकर इन ओजभरे गीतों से काव्य-कानन सुरभित हो उठा। राष्ट्र के लिये स्वतंत्रता की बलिवेदी पर आत्मबलिदान की भावना जाग पड़ी। सर्व श्री माखनलाल चतुर्वेदी, सुभद्राकुमारी चौहान, गोपालसिंह नेपाली आदि इस प्रवृत्ति के प्रमुख कवि हैं। ये भारत की स्वतंत्रता के इच्छुक और देशभक्त कवि हैं। परंतु कुछ कवि इससे आगे बढ़े हैं।

इन आंदोलनों और इनके दमन तथा द्वितीय महासमर का देश के नवयुवकों पर बड़ा व्यापक प्रभाव पड़ा है। उनकी भावना उत्तरोत्तर उदार हो गई है। वे समाजवाद से प्रभावित हैं और राजनीतिक, आर्थिक, सामाजिक तथा साहित्यिक क्षेत्र में आमूल परिवर्तन के इच्छुक हैं। सुधार से अधिक वे क्रांति के पुजारी हैं। राष्ट्रीयता की सीमा लाँघकर वे अंतरराष्ट्रीयता की ओर बढ़ रहे हैं और साहित्य में ‘प्रगति’ चाहते हैं।

आर्थिक परिस्थिति

ब्रिटिश शासन से भारत के राजनीतिक जीवन में हलचल के समान ही उसके आर्थिक जीवन में भी उथल-पुथल मच गई। इस शासन द्वारा ग्राम-संस्था नष्ट हो गई और सरकार की औद्यागिक नीति से देश का आत्मावलंबन लुप्त हो गया। इंग्लैंड का व्यापार बढ़ाने के लिये देशी व्यापार, कला और कारीगरी को हर प्रकार से दबाने और कुचलने की चेष्टा हुई। फलतः ‘भारत का निर्यात रत्नीसर्प शती के आरंभ में पंद्रह लाख पौंड से अधिक सामान का था। सन् १८६२ में हमारा सूती माल का आयात अट्ठाईस लाख पौंड से अधिक का था।’ शिल्प तथा वाणिज्य-व्यवसाय के इस प्रकार ठंढे पड़ जाने से नब्बे प्रतिशत जन-संख्या कृषि-कर्म पर अवलंबित हुई। ऋण भी बढ़ता जा रहा था। सन् १८८० में प्रति सहस्र पर २०.६८

वर्तमान कविता के आविर्भाव काल की परिस्थितियाँ

१४०

था। १८६१ में २८-८६१ हो गया। देश में भयानक दुर्भिक्ष पड़ रहे थे और किसान तथा मध्यवर्ग दोनों की दशा अच्छी नहीं थी। भारत की बढ़ती हुई गरीबी और दुरवस्था की ओर हमारे कवियों का ध्यान गया। उन्होंने किसानों की दुर्दशा का मार्मिक चित्रण किया और बढ़ती हुई बेकारी को रोकने के लिये अधिकारियों से शिल्प तथा औद्योगिक शिक्षा के लिये प्रार्थना की। सर्वे भारतेंदु हरिश्चंद्र, प्रतापनारायण मिश्र और प्रेमघन की इस समय की रचनाओं में आर्थिक चेतना का अच्छा संकेत मिलता है। स्वामी दयानंद सरस्वती ने भी देश-दशा का अनुभव कर शिल्प-शिक्षा की आवश्यकता बताई। एक पत्र में उन्होंने लिखा है—‘यह स्पष्ट है कि बहुत से पढ़े-लिखे लोगों को भी नौकरी नहीं मिलती या वे जीवन-निर्वाह का प्रबंध नहीं कर सकते। ऐसी अवस्था देखकर मैं एक कला-कौशल के स्कूल की आवश्यकता विचारता हूँ, प्रत्येक पुरुष को अपने आय का सौवाँ भाग प्रस्तावित संस्था को दे देना चाहिए, इस धन से चाहे तो विद्यार्थी कला-कौशल सीखने जर्मनी भेजे जायँ या वहाँ से अध्यापक यहाँ बुलाये जायँ।’... सन् १९०१ से कांग्रेस औद्योगिक शिक्षा पर भी जोर देने लगी। इस वर्ष प्रथम बार कांग्रेस के अधिवेशन के साथ प्रदर्शनी हुई।

यद्यपि भारतेंदु-युग के कवियों का इस विषय में प्रयास स्तुत्य है तथापि वे प्रार्थना और आलोचना से आगे नहीं बढ़े। प्रार्थना फिर आलोचना और आलोचना के साथ प्रार्थना, यही उनका क्रम था। बंग-भंग से इसमें भी जनरुचि में महान् परिवर्तन हो गया। सरकार का प्रतिरोध करने के लिये आंदोलन के साथ बायकाट (बहिष्कार) और स्वदेशी का प्रचार हुआ। हड़ताल की भी धूम थी और चर्खे का स्वर भी कभी कभी सुनाई पड़ता था। कांग्रेस ने इस आर्थिक निर्णय को स्वीकार किया। यहाँ यह कहना अनुपयुक्त न होगा कि श्री प्रेमघन और श्री हरिश्चंद्र इसके पहले ही जनता का ध्यान स्वदेशी के उपयोग की ओर आकृष्ट कर चुके थे। भारतेंदु हरिश्चंद्र ने उन लोगों की भर्त्सना की थी जिनका ‘मारकीन मलमल बिना चलत कबू नहिं काम’ और श्री प्रेमघन ने ‘हाटन में देखहु भरो बस अँगरेजी माल’ कहकर भारत की आर्थिक दासता पर जोर प्रकट किया था। यह होते हुए भी कांग्रेस द्वारा विदेशी माल के ‘बहिष्कार’ और स्वदेशी के ग्रहण का आंदोलन और हड़ताल से जिस मनोवृत्ति का संकेत मिलता है भारतेंदु-युगीन कवियों में वह नहीं थी। उस मनोवृत्ति का पूर्ण दर्शन हमें श्री बालमुकुंद गुप्त की कविताओं में मिलता है। कांग्रेस की इस

१—मौलवी श्री महेशप्रसादकृत स्वामी दयानंद।

आर्थिक नीति से राष्ट्र में आत्मसंमान की भावना जगी और देशवासियों में आत्मावलंबन आया। देशवासी अब राजभक्ति को चाटुकारिता समझने लगे और साधनसंपन्न बनने की चेष्टा करने लगे। प्रार्थना के स्थान पर कड़ी आलोचना का जन्म हुआ। अनेक कवियों ने किसानों की दुर्दशा पर कविताएँ लिखीं। इनमें से श्री सनेही और श्री मैथिलीशरण गुप्त प्रमुख हैं। नेताओं ने सरकार के बढ़े हुए फौजी खर्च की निंदा की और काव्य में श्री बालमुकुंद गुप्त ने देश के बढ़ते हुए ऋण, दुर्भिक्ष की भयंकरता, गरीबों के प्रति अमीरों के कुव्यवहार और सरकार की फौजी नीति की खरी आलोचना की और राष्ट्र को साधनसंपन्न बनने का यह कहकर उपदेश दिया—

अपना बोया आप ही खावे, अपना कपड़ा आप बनावे।

माल विदेशी दूर भगावे, अपना चरखा आप चलावे।

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि कांग्रेस के स्वदेशी और बहिष्कार के प्रभाव से जनता की मनोदृष्टि प्रार्थना और आलोचना से आगे बढ़कर आत्मावलंबन तक पहुँच गई थी। जनता अब सरकारी विरोध का उत्तर प्रतिरोध और प्रतिकार से देने को तत्पर थी। कांग्रेस के व्यापक प्रभाव से प्रस्त होकर कदाचित् किसी विदेशी ने 'बायकाट' की यह कहकर परिभाषा की थी कि 'बायकाट राष्ट्रीयता की भावना है (जो) ग्रेट ब्रिटेन के विरुद्ध व्यापारिक समर की घोषणा कर रही है'। उसने यह भी जिज्ञासा की थी कि 'भारत भारतीयों के लिये है, क्या यही दूसरी मंजिल होगी।' सन् १९१६ में कांग्रेस ने खादी को अपनाया। उस समय से खादी जातीय प्रतिष्ठा, राष्ट्रीयता, स्वतंत्रता और बलिदान का प्रतीक बन गई है। तब से न मालूम कितने कवियों ने खादी पर भावपूर्ण गीत लिखकर अपने को कृतकृत्य किया।

सन् १९१४ में योरोपीय महासमर के उपरान्त आर्थिक विचार-धारा में विशेष परिवर्तन हुआ। किसान-आंदोलन तथा मजदूर-आंदोलन का भी प्रभाव पड़ा। सबसे बड़ा परिवर्तन यह हुआ है कि आर्थिक संकट को राजनीतिक समस्या का अंग मान लिया गया है और इसका संबंध राष्ट्रीय स्वतंत्रता से जोड़ दिया गया है। कुछ लोग देश के राजनीतिक तथा आर्थिक प्रश्न को विश्वव्यापी हलचल तथा वर्ग-संघर्ष का अंग मानने लगे हैं। उनकी संमति में इन समस्याओं का हल सुधार में नहीं, विप्लव में है। वे पूँजीवाद को सबसे बड़ा शत्रु मानते हैं और उनका विश्वास है कि सब रोगों की औषध समाजवाद है।

वर्तमान कविता के आविर्भाव-काल की परिस्थितियाँ १४६

सामाजिक परिस्थिति

राजनीतिक जागृति के समान ही सामाजिक सुधार की व्यापक लहर भी देश के एक कोने से दूसरे कोने तक फैली। सन् १८६३ तक सभी प्रमुख सामाजिक संस्थाओं की स्थापना हो चुकी थी। बंगाल में ब्रह्मसमाज का प्रभाव पड़ चुका था। मद्रास में वेद-समाज और बंबई में प्रार्थना-समाज का अच्छा स्वागत हुआ था। रामकृष्ण-मिशन और थियोसोफिकल सोसायटी से हिंदू-समाज को नवीन स्फूर्ति मिली। इन संस्थाओं के शुभ और महत्त्वपूर्ण कार्यों को मानते हुए भी यह कहना पड़ता है कि ये हमारे जातीय जीवन से दूर थीं, परिचयी रंग में रंगी थीं और हमारे धार्मिक, सामाजिक और आध्यात्मिक आदर्शों को अच्छी तरह समझने में असमर्थ थीं। भारतीय जीवन और हिंदी-साहित्य पर सबसे गंभीर और व्यापक प्रभाव आर्यसमाज का पड़ा। अंधविश्वास और सामाजिक कुरीतियों की खरी आलोचना के द्वारा आर्यसमाज ने सामाजिक जीवन में उथल-पुथल मचा दिया। आलोचना ने वाद-विवाद को, जन्म दिया, जिसके फलस्वरूप अपरिवर्तनवादी, सुधारवादी और आर्यसमाजी सभी की आँखें खुल गईं और सब हिंदू धर्म, समाज तथा संस्कृति की रक्षा के लिये तत्पर हो गए।

सर्वश्री भारतेन्दु हरिश्चंद्र, प्रेमघन, प्रतापनारायण मिश्र, राधाकृष्ण-दास आदि सामाजिक कुरीतियों की आलोचना कर समाज-सुधार का आग्रह पहले ही कर चुके थे। सन् १८६३ में श्री बालमुकुंद गुप्त को हम हिंदू-समाज की दुरवस्था पर दुःख प्रकट करते हुए पाते हैं और इसके निराकरण के लिये वर्णाश्रम धर्म के पालन का उपदेश देते देखते हैं। इनके बाद जो दूसरे कवि हुए उनमें भारतेन्दु-युग की सामाजिक भावना से कोई विशेष अंतर नहीं लक्षित होता। सामाजिक सुधार के विषय—स्त्री-शिक्षा, विधवा, दहेज, बाल-विवाह, अछूत आदि—प्रायः वे ही हैं। अंतर केवल इस बात का है कि जहाँ भारतेन्दु-युग के कवि अधिकतर सामाजिक कुरीतियों की आलोचना मात्र से संतुष्ट हो जाते थे वहाँ इस समय के कवि इन कुरीतियों के शिकार और सताए हुए व्यक्तियों की कष्ट अवस्था का अत्यंत समानुभूतिपूर्ण चित्र उपस्थित करते हैं। दूसरा अंतर यह है कि ये कवि भारतेन्दु-युग के समान सभी विषयों पर न लिखकर केवल उन्हीं विषयों को चुनते हैं जिनका इनपर प्रभाव पड़ता है। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि श्री श्रीधर पाठक को विधवाओं से समानुभूति है। श्री नाथूराम 'शंकर' शर्मा बाल-विवाह की आलोचना करते हैं। श्री गोपालशरण सिंह समाज का ध्यान दहेज की कुप्रथा की ओर आकृष्ट करते हैं और श्री मैथिलीशरण गुप्त समाज

की सर्वतोमुखी उन्नति के अभिलाषी हैं। अन्य कवि भी सामयिक सामाजिक विषयों पर अपनी लेखनी चलाते रहे।

वर्तमान युग में श्री निराला ने अपनी कविताओं द्वारा सामाजिक अत्याचार और अंधविश्वास की ओर लोगों का ध्यान आकृष्ट किया है। महात्मा गांधी के उपवास से अछूतों की ओर लोगों का ध्यान गया और अछूत-संबंधी कविताओं की बाढ़ सी आ गई। इतना होते हुए भी सामाज की सामान्य भावना में कोई विप्लवकारी परिवर्तन नहीं लक्षित होता—यद्यपि सामाजिक कविता कुछ न कुछ होती जा रही है। इस अपरिवर्तनशीलता का एक कारण यह भी है कि राजनीतिक समस्याओं की विषमता में देशवासी और कवि इतने व्यस्त हैं कि उन्हें सामाजिक प्रश्नों को सोचने समझने के लिये पर्याप्त अवकाश नहीं मिलता। दूसरा महत्त्वपूर्ण कारण यह प्रतीत होता है कि छोटी मोटी बातों को छोड़कर हम स्वयं व्यापक तथा युगांतरकारी सामाजिक परिवर्तनों के लिये तैयार नहीं हैं।

थोड़े समय से समाजवाद से प्रभावित कुछ युवक कवि एक नवीन प्रकार की सामाजिक विचारधारा के प्रचार में लगे हुए हैं। इनके लिये सामाजिक प्रश्न इनकी संसार-सुधार की नवीन व्यवस्था का एक अंग है। ये सामाजिक आदर्श से गिरे हुए व्यक्ति के प्रति केवल समानुभूति ही नहीं प्रदर्शित करते वरन् उसके अधःपतन के लिये समाज को भी दोषी ठहराते हैं। ये स्त्री तथा पुरुष दोनों के लिये समान अधिकार चाहते हैं, वर्ग-भेद तथा वर्ण-भेद दोनों का नाश इनका उद्देश्य है। ये केवल हिंदू-समाज के सुधार की कामना न कर समस्त संसार की सामाजिक अंधविश्वास, रूढ़ि, बंधन तथा अत्याचार से मुक्ति चाहते हैं। इस क्षेत्र में सर्वश्री निराला, सुमित्रानंदन पंत तथा नरेंद्र शर्मा का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है।

वर्तमान कविता की राजनीतिक, आर्थिक तथा सामाजिक भावना के क्रमिक विकास का यह संक्षिप्त इतिहास है। ये भावनाएँ काव्य में भी ठीक इसी रूप में प्रतिबिंबित हुई हैं। वर्तमान काव्य की राजनीतिक विचार-धारा का इतिहास राजभक्ति, शासक से प्रार्थना, फिर उससे असंतोष, संघटन, एकता, आंदोलन, राष्ट्रीय स्वतंत्रता और आत्म-बलिदान का क्रमिक इतिहास है। आर्थिक विषयों से संबद्ध रचनाओं में याचना से आत्मा-वलंबन के क्रमिक विकास का संकेत है और सामाजिक कविता में अधिकतर सामंजस्यपूर्ण सुधार की भावना के दर्शन होते हैं। परिस्थितिजन्य इन भावनाओं का हिंदी पर व्यापक प्रभाव पड़ा, फलतः इनका कविता में समावेश हुआ और ये काव्य की प्रवृत्तियाँ बन गईं।

कुछ साहित्यिक शब्दों का व्युत्पादन

श्री बलदेवप्रसाद मिश्र

पीठमर्द

आजकल पठन-पाठन में आनेवाले 'साहित्यदर्पण', 'दशरूपक' आदि ग्रंथों में पीठमर्द का यह लक्षण मिलता है—पीठमर्द वह है जो नायक का भक्त तथा अनुचर, शुद्ध अर्थात् सदाचारी, विचक्षण एवं नायक से गुणों में कुछ न्यून हो।

'दशरूपक' में पीठमर्द का 'पीठमर्दो विचक्षणः। तस्यैवानुचरो भक्तः किञ्चिदूनश्च तद्गुणैः' यह लक्षण देने के बाद उदाहरण भी दिया है 'यथा मालतीमाधवे मकरन्दः रामायणे सुग्रीवः।' ठीक, मान लिया कि सुग्रीव राजा रामचंद्र के पीठमर्द थे और इसी प्रकार अन्य ग्रंथों में भी समझ लेंगे। पर 'मृच्छकटिक' या अन्य कई नाटकों या उसके उपभेदों में वेश्या के साथ भी पीठमर्द का वर्णन है। वहाँ 'नायक के गुणों से कुछ न्यून गुणवाला' की संगति कैसे बैठेगी ?

वर्तमान अध्यापक पीठमर्द का अर्थ प्रायः 'संवाहक'—शरीर दवाने-वाला—बताते हैं—'पीठ (देश्यां), तदुपलक्षणेन शरीरं मर्दयतीति पीठमर्दः।' यह और भी विलक्षण है।

ईसा के तीसरे या चौथे शतक पूर्व के आचार्य वात्स्यायन 'कामसूत्र' में लिखते हैं—'अविभवस्तु शरीरमात्रो मल्लिकाफेनकषायमात्रपरिच्छदः पूज्यादेश्यादागतः कलासुविचक्षणस्तदुपदेशेन गोष्ठ्यां वेशोचिते च वृत्ते साधयेदात्मानमिति पीठमर्दः।' अर्थात् दरिद्र और कलाओं में कुशल जो व्यक्ति कलाओं के उपदेश से गोष्ठियों या वेशोचित (वेश = वेश्याओं का वासस्थान) कामों से अपनी जीविका चलाए वह पीठमर्द है। वात्स्यायन के इस उल्लेख से स्पष्ट है कि पीठमर्द का विशेष परिचय उस समय के नगरों के रसिकों और वेश्याओं से रहता था। उन्हीं को वह कलाओं का उपदेश करता था।

ईसा की दशवीं शती के आचार्य हेमचंद्र 'अभिधान चिंतामणि' (-२, २४४) में लिखते हैं—'वेश्याचार्यः पीठमर्दः।' इसकी व्याख्या वे ही इन शब्दों में करते हैं—'वेश्याचार्यो वेश्यानां नृत्तोपाध्यायः। पीठं नर्तनस्थानं पादैर्मृद्वनाति पीठमर्दः।' अर्थात् वेश्या को नृत्त सिखानेवाले आचार्य का नाम पीठमर्द है। पीठ अर्थात् नर्तन-स्थान को (नृत्त में) पैरों से रौंदने के कारण

उसका नाम पीठमर्द है। वस्तुतः पीठमर्द का यही अर्थ है। वात्स्यायन-कालिक गोष्ठियाँ तो अब नहीं हैं, पर 'वेश' हैं। अतः यह स्पष्ट ही है कि वात्स्यायन के समय के पीठमर्द धीरे-धीरे वेश्याओं से अधिक संबद्ध होते गए, वे कलाओं में कुशल थे ही; अतः धीरे धीरे वेश्याओं को नृत्त की शिक्षा देने लगे। बाद में यही कर्म मुख्य हो गया और वे वेश्याचार्य हो गए।

आचार्य हेमचंद्र ने पीठमर्द की यह व्याख्या 'अभिधान चिंतामणि'—एक शब्दकोश—में की है। वहाँ उन्हें इसका ठीक ठीक अर्थ देना ही पड़ा। इस अर्थ से 'मृच्छकटिक' आदि में वेश्या के साथ पीठमर्द के वर्णन की संगति भी ठीक ठीक बैठ जाती है और उन वेश्याओं का पीठमर्द के लिये आदरसूचक संबोधन भी उचित ज्ञात होता है।

अन्य आचार्यों ने संभवतः पीठमर्द की इस हीनावस्था को छिपाने के लिये ही उसका यथार्थ परिचय नहीं दिया और 'रामायणे सुग्रीवः' कहकर चुप रहे, क्योंकि यह तो माना ही नहीं जा सकता कि चौदहवीं शताब्दी के 'अष्टादशभाषावारवनिताभुजंग' 'साहित्यदर्पण' के कर्ता विश्वनाथ ने या उनके बाद के विद्वानों ने आचार्य हेमचंद्र के ग्रंथ न देखे हों।

अतः निष्कर्ष यही रहा कि वेश्याओं का नृत्ताचार्य ही पीठमर्द है। नृत्त उस नाच को कहते हैं जिसमें नर्तक न गाता है और न 'बताता' है। 'अमरकोश' के सबसे प्राचीन टीकाकार क्षीरस्वामी नृत्त के संबंध में लिखते हैं—'नृत्तं अंगविक्षेपमात्रं विवाहाभ्युदयादौ।' अर्थात् विवाह या किसी अभ्युदय के समय अंगविक्षेपमात्र (गायनहीन एवं भाव-प्रदर्शनहीन) नृत्त है।

असुरविवर

संस्कृत-साहित्य में 'असुरविवर' का उल्लेख कई ग्रंथों में है। सर्वाधिक उल्लेख संभवतः महाकवि बाणभट्ट ने किया है। 'कादंबरी' में वृद्ध द्रविड़ के वर्णन में उसका एक विशेषण है—'लग्नासुरविवरप्रवेश-पिशाचेन' अर्थात् जिसे असुरविवरप्रवेश रूप पिशाच लगा हुआ था। 'कादंबरी' की प्रायः सभी टीकाओं में असुरविवर का अर्थ 'पाताल' किया गया है। कुछ टीकाकारों ने और विचित्र अर्थ भी किए हैं। दो उदाहरण यथेष्ट होंगे—(१) लग्नोऽसुरविवरं पातालं तत्र प्रवेशलक्षणः पिशाचो यस्य। इन टीकाकार ने असुरविवर का अँगरेजी पर्याय 'दि नीदर वर्ल्ड' दिया है। (२) लग्नोऽसुरविवरे प्रवेशाग्रह एव पिशाचो यस्मिन् तेन। सिद्धांतवागीशजी की इस टीका से असुरविवर का अर्थ स्पष्ट व्यक्त नहीं होता, पर उनके वंगानुवाद से यह ज्ञात होता है कि वे उसका अर्थ 'असुर का हृद' मानते हैं—असुरेर हृदे प्रवेश करिवार आग्रह रूप पिशाच ताहार पिछने लागियाछिलो।

१—श्री एम० आर० काले बी० ए० । २—श्री हरिदास सिद्धांतवागीश ।

कुछ साहित्यिक शब्दों का व्युत्पादन

१५३

असुरविवर का उल्लेख महाकवि बाणभट्ट के 'हर्षचरित' में कई स्थानों पर है—(१) असुरविवर व्यसनी लोहिताक्षः (प्रथम उच्छ्वास)। (२) असुरविवरमिति वातिकैः (तृतीय उच्छ्वास)। (३) असुरविवराणीवापावृतानि (चतुर्थ उच्छ्वास)। (४) असुरविवरव्यसनिनं चापजहुरपरिमितरमणीनूपुरभणभणह्लादरम्यया मागधं गोधनसुरुज्जया स्वविषयं मेकलाधिपमन्त्रिणः (षष्ठ उच्छ्वास)।

इन चारों उल्लेखों में से तीसरा काम का है। उससे असुरविवर का ठीक अर्थ ज्ञात होता है। राजदर्शन के लिये सामंतों की महिलाओं के दल आ रहे हैं, उन्हीं का एक विशेषण है—असुरविवराणीवापावृतानि—'मानों असुरविवर खुल गए हों' अर्थात् मानों असुरविवर से महिलाएँ निकल आई हों। इससे यह अनुमान होता है कि भूगर्भ में सुंदरी स्त्रियों के होने का कुछ लोगों को विश्वास था और वे उसका मार्ग ढूँढ़ते फिरते थे। उन्हें यह भी निश्चय रहा ही होगा कि वहाँ पहुँचते ही वे स्त्रियाँ सर्वस्व अर्पित कर देंगी। अतः असुरविवर का अर्थ पाताल न होकर भूगर्भ की स्त्रियों के पास पहुँचने का मार्ग ही समीचीन ज्ञात होता है। उक्त स्त्रियाँ भले ही पाताल में ही रहती हों, पर 'विवर' शब्द की सार्थकता 'मार्ग' अर्थ से ही है।

बाणभट्ट ऐसे लोगों—असुरविवरान्वेषकों—को पागल समझते थे, यह ऊपर के दूसरे उल्लेख से सिद्ध है—असुरविवरमिति वातिकैः। स्थाण्वीश्वर के वर्णन में यह उल्लेख है; उसे वातिकों-वातग्रस्तों-ने असुरविवर समझा।

जय जीव

'रामचरितमानस' में यह अर्द्धाली ज्यों की त्यों दो बार मिलती है—'कहि जय जीव सीस तिन्ह नाए।' एक बार राजा दशरथ के मंत्री जब उन्हें 'जुहारते' हैं तब आई है और दूसरी बार राजा जनक के मंत्री जब उन्हें प्रणाम करते हैं तब।

स्कूल में मेरे अध्यापक जी ने जय जीव का अर्थ बतलाया था—'जीव की जय हो।'।

कुछ वर्षों बाद 'मानस' का स्वतंत्र अध्ययन करते समय 'जय जीव' बार बार कहने लगे कि हमारा अर्थ 'जीव की जय हो' नहीं है। 'मानस' की टीकाएँ देखीं, उनमें 'जीव की जय हो' भी था, अन्य बलात्कृत अर्थ भी थे। काशी के कुछ रामायणी व्यासों के यहाँ पहुँचा, बाहर से आनेवाले। कुछ व्यासों को भी कष्ट दिया; पर संतोष न हुआ। हारकर चुप बैठ रहा।

तीन चार वर्षों बाद काश्मीर के कवि जेमेंद्र का 'चतुर्वर्ग संग्रह' पढ़ा। उसके 'अर्थ-प्रशंसा' प्रकरण के पाँचवें श्लोक से 'जय जीव' का समाधान हो गया। श्लोक यह है—

वृद्धाः प्रसिद्धा विबुधा विदग्धाः शूराः श्रुतिज्ञाः कवयः कुलीनाः ।

विलोक्यन्तः सधनस्य वक्त्रं जयेति जीवेति सदा वदन्ति ॥

अर्थात् वृद्ध, प्रसिद्ध आदि सभी तरह के व्यक्ति धनवान् का मुँह देखकर उसे कहते हैं—तुम्हारी जय हो, तुम जीओ ।

और कुछ दिनों बाद 'योगवासिष्ठ' जैसे प्राचीन ग्रंथ में भी इस प्रकार 'जय जीव' के ऐसे ही प्रयोग मिले । तब यह निश्चय हो गया कि राजवर्ग का अभिवादन करना पुरानी परंपरा और शिष्टता है, गोस्वामी जी ने उसे ही 'मानस' में दिखलाया है ।

होली

होलिकादहन के लिये 'होली' शब्द न मिलने के कारण विद्वानों के कई तरह के मत हैं । कुछ लोगों का कथन है कि होलिकादहन अलग वस्तु है; और उस दिन या उसके दूसरे दिन गुलाल (या रंग आदि का) प्रयोग नहीं होता था; वह वसंतपंचमी को होता था । वस्तुतः वसंतपंचमी को कामदेव-पूजन होता था । होलिकादहन के दिन या दूसरे दिन भी गुलाल आदि का उपयोग होता था । 'कल्पद्रु' कोश के इस श्लोक से यह व्यक्त है—

होलाकाऽपि च होली च वासन्ती कूर्दना स्त्रियः ।

मधूत्सवः कामिमहो रजःपर्यायतो महः ॥

इस श्लोक में होली शब्द भी है, और इसके अनुसार होली के इतने पर्याय हुए—

१—होलाका, २—होली, ३—वासन्ती, ४—कूर्दना, ५—मधूत्सव, ६—कामिमह तथा ७—'रजः' शब्द के किसी भी पर्याय शब्द के साथ 'महः' जोड़कर बना शब्द; जैसे—धूलिमहः ।

इन पर्यायों में अंतिम 'रजोमह', 'धूलिमह' आदि यह सूचना देते हैं कि अवीर, गुलाल आदि का उपयोग होता था । 'कूर्दना' उल्लल-कूद, आमोद-प्रमोद के आधिक्य का सूचक है । 'कामिमह' भी विशिष्ट संकेत करता है ।

भंभर

जल शीतल रखने का भंभर नामक मृत्पात्र काशी में और अन्यत्र भी प्रसिद्ध है । पर एक और 'भंभर' का प्रयोग भी बनारसी बोली में होता है । भारतेन्दु हरिश्चंद्र भी एक नाटक (प्रेमजोगिनी) में उसका प्रयोग कर चुके हैं—'रंग, है पुराने भंभर' । 'पुराने भंभर' प्रयोग में कुछ वैशिष्ट्य है, संभवतः मृत्पात्र से उसका संबंध नहीं है, मन में यह विचार बार बार आता था । गत वर्ष 'ठाली' बैठौ 'कल्पद्रु' कोश का पाठ करने लगा । उसमें वृद्ध के पर्याय में 'भंभर' शब्द मिला, साथ ही याद आया—'रंग है पुराने भंभर' । यह 'भंभर' ही 'पुराने भंभर' के 'भंभर' का जनक है या नहीं, सहृदया अत्र प्रमाणम् ।

'कल्पद्रु' कोश (३।६६-६७) का श्लोक यह है—प्रवयाः स्थविरो वृद्धो जीनो जीर्णो जरत्पि । भंभरोऽपि च..... ॥

समीक्षा

वैशेषिक दर्शन—लेखक—प्रोफेसर श्री हरिमोहन भा (बी० एन० कालिज, पटना); प्रकाशक—पुस्तक भंडार, लहेरिया सराय । आकार बड़ा, पृष्ठ-संख्या १७४ ।

बड़े सौभाग्य तथा आनंद का विषय है कि हिंदी में दर्शनशास्त्र विषयक साहित्य की अभिवृद्धि धीरे धीरे हो रही है । सुंदर तथा सुबोध भाषा में लिखे गए अनेक प्रामाणिक ग्रंथों की रचना इधर हिंदी में हुई है और हो रही है । प्रस्तुत ग्रंथ 'भारतीय दर्शन-परिचय' नामक माला का द्वितीय पुष्प है । इसका प्रथम पुष्प था 'न्याय दर्शन,' जो तीन वर्ष पहले विकसित हुआ था और जिसके आमोद ने दर्शन के रसिक भ्रमरों को आनंदित किया था ।

प्रस्तुत ग्रंथ में पंडित हरिमोहन भा ने वैशेषिक दर्शन के सिद्धांत विस्तार के साथ प्रस्तुत किए हैं । भाषा सरल तथा बोधगम्य है । शैली सीधी-सादी है । ग्रंथकार का उद्देश्य वैशेषिक दर्शन के सातों पदार्थों—द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष, समवाय तथा अभाव—परमाणुवाद, कार्य-कारण संबंध, सृष्टि-प्रलय, पुनर्जन्म, मोक्ष का प्रामाणिक विवेचन करना है और इस उद्देश्य की सिद्धि में वे सर्वथा सफल हुए हैं । इस ग्रंथ का अध्ययन करने से वैशेषिक दर्शन के सिद्धांतों का परिचय पाठकों को भली भाँति हो सकेगा, यह कथन पुनरुक्ति मात्र है । 'परिशिष्ट' में अनेक उपयोगी तथ्यों का संग्रह एक साथ कर ग्रंथ को और भी उपयोगी बना दिया गया है ।

लेखक महोदय ऐसी सुंदर, प्रामाणिक तथा सुबोध पुस्तक लिखने के लिये हमारी कृतज्ञता के पात्र हैं । इसी आदर्श पर आप अन्य दर्शनों का भी परिचय लिखने-वाले हैं । अतः आपका ध्यान कतिपय बातों की ओर दिलाया जाता है, जिससे इनका सुधार अगले संस्करण में हो सके तथा अन्य दर्शनों के लेखन में इन वृत्तियों का परिमार्जन किया जा सके ।

(१) ग्रंथ में सबसे अधिक खटकनेवाली बात है तुलनात्मक दृष्टि का अभाव । लेखक ने वैशेषिक शास्त्र के मान्य ग्रंथों के आधार पर यह विवरण प्रस्तुत किया है । यदि कहीं इन सिद्धांतों की मीमांसा पाश्चात्य दृष्टि से भी की गई होती तो भी उत्तम होता । पाश्चात्य दृष्टि से किसी भी दर्शन को परिपूर्ण होने के लिये उसकी प्रमाण-मीमांसा (एपिस्टोमोलाजी), पदार्थ-मीमांसा (मेटाफिजिक्स) तथा आचार-मीमांसा (एथिक्स) का वर्णन होना नितांत आवश्यक है । यदि इन तीनों मीमांसाओं का भी कहीं विवरण होता तो इस ग्रंथ का मूल्य तथा उपयोग और भी बढ़ जाता ।

(२) 'वैशेषिक साहित्य' (पृष्ठ ६-११) का विवरण ग्रंथ के स्वरूप के अनुरूप नहीं है । यह विवरण लुब्ध होने के अतिरिक्त अनेक स्थलों पर भ्रमक भी है । पृष्ठ दस पर भा जी ने नागेश तथा चंद्रकांतरचित वृत्तियों का उल्लेख किया है, पर

चंद्रकांतरचित 'वृत्ति' नहीं प्रत्युत 'भाष्य' है। वैशेषिक सूत्रों पर लिखी नागेश की वृत्ति का पता नहीं चलता। उदयनाचार्य की 'किरणावली' पर दो ही टीकाएँ नहीं हैं। बादराज (ग्यारहवें शतक) तथा वार्दींद्र (तेरहवें शतक) की टीकाएँ पद्मनाभ तथा वर्धमान उपाध्याय की टीकाओं से कहीं अधिक प्राचीन हैं। पृष्ठ ग्यारह पर 'मुक्तावली' पर 'रुद्राचार्य कृत रौद्री टीका' का उल्लेख है, पर न तो इस टीका का नाम 'रौद्री' है और न यह टीका 'मुक्तावली' पर है, और न इसके रचयिता का नाम 'रुद्राचार्य' है। लेखक का नाम है रामरुद्र भट्टाचार्य और यह टीका 'मुक्तावली' की विख्यात टीका 'दिनकरी' की व्याख्या है। इसका वास्तविक नाम 'दिनकरप्रकाश' या 'रामरुद्री' है। इस प्रसंग के लिखने में बड़ी असावधानी की गई है। किसी ग्रंथकार के विषय में समय का निर्देश नहीं है, इन त्रुटियों का निराकरण अवश्य हो जाना चाहिए।

(३) कई स्थानों पर सिद्धांतों की खुलकर व्याख्या करनी चाहिए थी, जिससे वे तथ्य सरलता से बोधगम्य हो जाते। उदाहरणार्थ पृष्ठ छिहत्तर पर 'प्रत्यक्ष ज्ञान' के 'निर्विकल्पक' तथा 'सविकल्पक' प्रकारों का निर्देश मात्र है। 'सप्त पदार्थों' के सूत्र रूप व्याख्यानों को उदाहरणों से परिपुष्ट करने की आवश्यकता है। पृष्ठ सतहत्तर पर 'यथार्थ अनुभव' का वर्णन बड़ा ही तुच्छ है। पृष्ठ ११७-१२१ पर 'परमाणुवाद' के सिद्धांत की तुलनात्मक व्याख्या होती तो अच्छा होता। यथार्थवादी बौद्ध तथा जैन दोनों दर्शनों को 'परमाणुवाद' अभीष्ट है। प्राचीन यूनानी लोग भी परमाणुओं की सत्ता मानते थे। इन तीनों का विवेचन होने से यह प्रसंग सांगोपांग हो जाता। पृष्ठ दो पर वैशेषिकों के मुख्य सिद्धांतों—द्वित्व, पाकजोत्पत्ति, विभागज विभाग का निर्देश किया गया है, परंतु इन तीनों का पूरा विवेचन नहीं है। पाकजोत्पत्ति का वर्णन तो पृष्ठ १२१ पर अवश्य है, परंतु द्वित्व के विषय में वैशेषिकों की विशिष्टता का पता ग्रंथ द्वारा नहीं चलता।

(४) ग्रंथ के अंत में इस दर्शन की विशिष्टता तथा दार्शनिक दृष्टि से समीक्षा का अभाव खटकता है। विद्वान् लेखक इस विषय का व्यापक विवरण अगले संस्करण में प्रस्तुत कर हमारी ज्ञान वृद्धि करेंगे, ऐसी आशा है। अंत में हम भा जी को यह पुस्तक लिखने के लिये बधाई देते हैं। मेरा पूरा विश्वास है कि ऊपर सुझाई गई बातों की ओर लेखक अवश्य ध्यान देंगे, जिससे इस माला में निकलनेवाले ग्रंथ और भी उपयोगी, रोचक तथा प्रामाणिक बन सकें।

बलदेव उपाध्याय

१—इस विषय के विशेष वर्णन के लिये देखिए श्री बलदेव उपाध्यायकृत भारतीय दर्शन, (द्वितीय संस्करण) पृष्ठ २६६-२६६, और २०५ (शारदा मंदिर, काशी)।

—संपादक

समीक्षा

१५७

लिपि-विकास—लेखक—श्री राममूर्ति मेहरोत्रा एम० ए०; प्रकाशक—साहित्य-रत्न भंडार, आगरा; मूल्य ॥॥।

यह पुस्तक सात अध्यायों में विभक्त है—लिपि का आविष्कार, प्राचीन लिपियाँ, ब्राह्मी का विकास, अंकों का विकास, शब्दांक सूची, अंकों का संक्षिप्त इतिहास, और हिंदी तथा अन्य लिपियाँ। लिपि के आविष्कार की विवेचना प्रायः पाश्चात्य विद्वानों की गवेषणाओं के ही आधार पर अवलंबित है, किंतु विषय को स्पष्ट रूप से प्रतिपादित करने का प्रयत्न अवश्य किया गया है; वैसे तो इसमें वर्णित सभी वादविवादों का निराकरण एक प्रकार से ओम्भा जी की 'प्राचीन लिपि-माला' में हो चुका है। अंकों का इतिहास और उनके विकास का पूरा मर्म समझाने की ओर लेखक जागरूक अवश्य रहा, परंतु इस कार्य में पूर्ण सफल नहीं हो सका। ब्राह्मी से वर्तमान रूप की ओर आते हुए देवनागरी अक्षरों की चर्चा प्रायः अधूरी रह गई है। इस बीच की स्थिति को स्पष्ट करते हुए भी कई प्रकार की वे लिपियाँ छूट गई हैं जिनसे देवनागरी का स्वरूप समझने में और भी सुगमता होती। लिपियों के विवेचन के साथ यह ध्यान नहीं रखा गया कि 'हिंदी लिपि और उर्दू लिपि' ये दोनों शब्द लिपियों के लिये अप्रयुक्त हैं। वस्तुतः इनके लिये 'नागरी लिपि' और 'फारसी लिपि' शब्द होने चाहिए। लिपियों के रूप दर्शाने के लिये तीन चार्ट दिए गए हैं, जिनमें अंकों के हिस्से चौथाई अंश ही पड़ा है। उसमें भी मौर्य-युगीन अंकों से लेकर तामिल अंक तक दिखाए गए हैं, किंतु अंकों का वास्तविक विकास तो अशोकी ब्राह्मी और शारदा के बीच में ही हुआ है। यदि वह अवरोह भी दिया गया होता तो और भी अच्छा होता। आरंभिक विद्यार्थियों के लिये यह पुस्तक काम की हो सकती है; किंतु उन्हें भी कई शंकाओं का शिकार होना पड़ेगा। इस विषय के साहित्य की तालिका का अभाव अवश्यमेव खटकने योग्य है।

उ० शं० त्रि०

कामायनी-मीमांसा—संग्रहकर्ता—श्री प्रेमनारायण टंडन; प्रकाशक—रामप्रसाद एंड संस, आगरा, प्रयाग; मूल्य ॥॥।

प्रस्तुत पुस्तक में स्वर्गीय श्री जयशंकर 'प्रसाद'—कृत प्रसिद्ध महाकाव्य 'कामायनी' पर हिंदी के छः लेखकों के समालोचनात्मक निबंध संगृहीत हैं। 'परिचय' में श्री हजारीप्रसाद द्विवेदी की सधी लेखनी द्वारा परिचयात्मक टिप्पणी है। 'अध्ययन' में श्री श्यामनारायण बैजल ने कुछ जमकर लिखने का प्रयास किया है, किंतु अन्य छोटे निबंधों की अपेक्षा इसमें उच्च कोटि की मीमांसा नहीं है। तीसरा निबंध श्री विश्वंभर 'मानव' ने 'आलोचना' नाम से लिखा है। समीक्षक ने कथा में घुसकर विभिन्न स्यों के नामों का सुंदर और मनोवैज्ञानिक प्रतिपादन किया है। इसमें महाकाव्य के पात्रों की चरित्रगत विशेषताओं पर भी दृष्टिपात किया गया है। 'एक दृष्टि' में श्री नंददुलारे वाजपेयी एवं आचार्य रामचंद्र शुक्ल की समालोचनाएँ हैं। वाजपेयी जी ने 'कामायनी' को केवल यथार्थवादी दृष्टि से ही परखने की चेष्टा की है, और आचार्य शुक्ल ने दार्शनिक दृष्टि से, अतः पांडित्यपूर्ण विमर्श होते हुए भी इनमें एकांगीपन खटकता है। अंतिम लेख 'कामायनी और दर्शन' है, जिसे पढ़ने से स्पष्ट हो जाता है

कि शीर्षक और प्रतिपाद्य विषय में तारतम्य नहीं है। संग्रहकर्ता के इस प्रयास का हिंदी-वालों को स्वागत करना चाहिए। आधुनिक हिंदी के श्रेष्ठ महाकाव्य 'कामायनी' पर विभिन्न विद्वानों की मीमांसा का एकत्रीकरण आवश्यक था।

कृष्णाचार्य
समीक्षांजलि—लेखक और प्रकाशक—श्री कन्हैयालाल सहल एम० ए०, बिड़ला कालिज, पिलानी (जयपुर); मूल्य ॥८॥

इस पुस्तक में सहल जी के ग्यारह आलोचनात्मक लेखों का संकलन है। कुछ लेखों में विदेशी आलोचकों की बातें समझाने का प्रयत्न है और कुछ में भारतीय काव्य-सिद्धांतों का परिचय। सबसे पहला लेख है 'कला का त्रिकोण' जिसमें लेखक ने साहित्य-निर्माण की प्रेरणा के तीन आधारभूत तत्त्व बतलाए हैं—अतृप्त वासना को पूर्ण कर आनंद प्राप्त करने की इच्छा (फ्रायड), हीनता की भावना का परिहार करने की चेष्टा (एडलर) और साहित्य में चिरस्थायी होने की प्रवृत्ति। अंत में श्रीपंत के 'गुंजन' तथा श्री सियाराम-शरण गुप्त के 'बापू' पर लंबे समीक्षात्मक लेख हैं, जो विद्यार्थियों के लिये उपयोगी सिद्ध होंगे। कुछ लेख तो इतने संक्षिप्त हैं कि विषय-बोध होता ही नहीं। हम भविष्य में सहल जी से और गंभीर तथा स्पष्ट विवेचनापूर्ण निबंधों की आशा करते हैं।

सोने से पहिले—लेखक और प्रकाशक—श्री विश्वंभर 'मानव' एम० ए०, मुरादाबाद; मूल्य ॥८॥

निर्भर और पाषाण—लेखक—श्री तेजनारायण काक एम० ए०; प्रकाशक—साहित्य भवन लिमिटेड, प्रयाग; मूल्य १॥१॥

इन दोनों पुस्तकों में गद्यगीतों का संकलन है, जो हिंदी में इस गद्य-शैली के नूतन विकास का परिचय देते हैं। 'सोने से पहिले' में प्रणय-जीवन से संबद्ध भावमय उद्गार हैं, जो कहीं तो अतीत-जीवन के चित्र अंकित करते हैं और कहीं मार्मिक उक्तियों का विधान। 'मानव' जी की प्रियतमा इसी लोक की है और उनकी वियोगजन्य अनुभूतियाँ वैसी ही हैं जैसी ऐसे अवसर पर प्रेमाभिभूत मन में जागरित होती हैं। इसी लिये इस संग्रह में स्थान स्थान पर मन को रमने का अवकाश अवश्य मिलता है।

'निर्भर और पाषाण' में विभिन्न भावों और तथ्यों का प्रतिपादन है। इस दृष्टि से इसमें विषय का अच्छा विस्तार दिखाई देता है। इन रचनाओं में अनुभूति-प्रेरित भाव-व्यंजना से अधिक लेखक की तथ्योद्घाटनी स्वच्छ दृष्टि का प्रसार है। कहीं कहीं प्रकृति के भावमय मधुर चित्र भी हैं (जैसे—पृष्ठ ३१ के 'दृश्य' में)। परंतु लेखक की असली विशेषता है जीवनगत सत्त्यों का दृष्टांतपूर्वक ऐसा कथन जो दिल और दिमाग पर असर करता है। 'निर्भर और पाषाण' के गद्यगीतों में गतिशील जीवन प्रतिबिंबित हुआ है जिसकी धारा संपूर्ण अवरोधों का अतिक्रमण करती हुई अबाध रूप से आगे की ओर बढ़ती जाती है।

इन दोनों रचनाओं की भाषा प्रसादमयी है और हर्ष की बात है कि आजकल के अधिकांश गद्यगीतों की भाँति इनमें कृत्रिम भावावेश से भरी उस शैली का आभास कहीं नहीं मिलता जिसके चमत्कारिक अलंकार-जाल में फँसकर भाव छुटपटाते रह जाते हैं, बाहर भाँक तक नहीं पाते।

विजयशंकर मल्ल

समीक्षा

१५६

खोटा सिका और पंचपल्लव—लेखक—श्री आरसंप्रसाद सिंह; प्रकाशक—श्री युगलकिशोर शर्मा शास्त्री, तारामंडल, रोसड़ा, दरभंगा; मूल्य क्रमशः ॥॥ और १॥॥।
दोनों पुस्तकों में कहानियाँ संगृहीत हैं। अधिकांश कहानियों का कथानक प्रेम के ताने-बाने से बुना हुआ है। 'खोटा सिका' की 'चिता की आग' नामक कहानी का कथानक पुराना ही है किंतु विन्यास की विशेषता से वह सजीव हो उठी है। 'आत्मदान', 'मुक्ति का मोल' और 'मोती नहीं आया' अच्छी कहानियाँ हैं। पीठिका और परिस्थिति के चित्रण में लेखक कुशल है। 'अदृश्य भुंजग' नामक कहानी उत्तम पुरुष में लिखी गई है। इसके नायक 'मैं' की सॉस रुक जाती है, औरतें रोने लगती हैं; फिर भी वह कहानी लिख ही डालता है। मनोविज्ञान की दृष्टि से यह अत्यंत दूषित तथा उपहासास्पद है। 'स्नान का पुरय' में लेखक श्रीलता की सीमा लाँघ गया है। जैसा कि लेखक की कविताओं में पाया जाता है, कहानियों में भी नारी के यौवन के प्रति उसकी उद्दाम वासना मुखर हो उठी है। इसके कथानक को संयमित किया जा सकता था, किंतु नारी के प्रति कहानीकार की अप्रीद दृष्टि ने नम्र यथार्थवाद का आश्रय लिया है।

'पंच पल्लव' की कहानियाँ अपेक्षाकृत लंबी और सुंदर भी हैं। इनमें नारी हृदय को निकट से समझने का प्रयत्न किया गया है। 'स्मृति के पथ पर' में नारी की 'अंतरव्यथा' और 'पिस्तौल का निशाना' में अंतरद्वंद्व का अच्छा चित्रण हुआ है। प्रूफ की हजारों गलतियाँ मिलेंगी। इनमें भाषागत त्रुटियों का निराकरण भी आवश्यक है।

पद्मराम—लेखक—श्री नंदकिशोर तिवारी बी० ए०; प्रकाशक—पुस्तक-भंडार, लहेरियासराय और पटना; मूल्य १॥।

प्रस्तुत पुस्तक लेखक की छः कहानियों का संग्रह है। 'साधुनी' को छोड़ अन्य सभी कहानियों में प्रेमी-प्रेमिका के आदर्शात्मक प्रेम की उद्भावना हुई है। दोनों पक्ष की सचाई सराहनीय है, बाजारू प्रेम—केवल वासनात्मक प्रेम—के लिये यहाँ स्थान नहीं। 'मरण का त्योहार, हे सखि' में प्रेमी की महत्ता के लिये प्रेमिका का त्याग उसके चरित्र की उच्चता एवं पवित्रता का सुंदर उदाहरण है। पूर्व जन्म की ब्याही एक निष्ठावान् नारी-हृदय की करुण अभिव्यक्ति सुंदर ढंग से हुई है। भाषा प्रांजल और संस्कृतगर्भ है। कहानियों में कवित्व का अधिक समावेश हो जाने से कहीं कहीं छायावादी अभिव्यंजना-प्रणाली का सहारा लिया गया है। कवित्व की प्रधानता से कहीं कहीं कथा-पक्ष दब सा गया है। फिर भी रचना-शैली सरस है। लेखक की दृष्टि जीवन के अन्य पक्षों की ओर न जा सकी; कला-पक्ष पर अधिक टिकी प्रतीत होती है।
आशा है हिंदी-संसार इसका आदर करेगा।

बचन सिंह

गणदेवता—लेखक—श्री रामदयाल पांडेय; प्रकाशक—पुस्तक-भंडार, पटना; मूल्य ३॥।

जब हिंदी-साहित्य में छायावाद-रहस्यवाद की स्थापना हो चुकी, इसके प्रवर्तक प्रसाद, निराला, पंत जब इसे अपने प्रतिभा-प्रकाश से पूर्णतः चमका चुके, इनके

अतिरिक्त भी जब इस परंपरा में कुछ प्रमुख कवि हो चुके तब जिन कवियों का आविर्भाव हुआ उनमें 'गणदेवता' के कवि श्री रामदयाल पांडेय भी हैं। श्री रामदयाल का काव्य जिस महत्प्रयत्न की ओर संलग्न है उस प्रयत्न का बीज उनके काव्य-जीवन के आरंभ से ही दृष्टिगत होता है, अर्थात् राष्ट्रीय कवि के रूप में ही उनका उदय हिंदी-साहित्य में हुआ था, और आज भी उनके काव्य की यह मुख्यतम धारा है।

श्री रामदयाल पांडेय के काव्य में राष्ट्रीय भावना की दृष्टि से रूसी समाजवाद का उतना आग्रह नहीं लक्षित होता जितना भारतीयता का। 'गणदेवता' की भूमिका 'कुछ दर्शन, कुछ चिंतन' से भी यही बात ज्ञात होती है।

'गणदेवता' में कवि का प्रधान विषय मानव है। वह मानव-विशेषतः निम्न वर्ग के मानव—को देवता—अमर—के रूप में मानता है। मानव को इस रूप में चित्रित करके कवि ने अपनी विशालहृदयता का परिचय तो दिया ही है, इससे समाज के दुर्बल वर्ग को उठने का बल भी अवश्य मिलेगा। मानव के इस पूज्य रूप का चित्रण वर्तमान काव्य में संभवतः श्री रामदयाल द्वारा ही पूर्णतः हो पाया है। उन्होंने मानव के इस रूप का चित्रण बड़ी ईमानदारी से किया है। कवि का विश्वास है कि युग-मानव बंधनों में रहने का अभिलाषी नहीं है, वह इन्हें तोड़ेगा ही। शोषक वर्ग के प्रति घृणा की भावना जगानेवाले चित्र भी अनेक रचनाओं में मिलेंगे।

नारी के प्राचीन तथा आधुनिक रूप का चित्रण और उसके प्रति अपनी श्रद्धा-भक्ति की अभिव्यक्ति भी कवि ने कई कविताओं में की है। लाल रूस और चीन के विषय में भी 'गणदेवता' में रचनाएँ हैं। 'कुछ दर्शन, कुछ चिंतन' में कवि ने अपने प्रकृति प्रेम तथा प्रकृति के विषय में अपने विचार व्यक्त किए हैं, परंतु 'गणदेवता' में प्रकृति-विषयक रचना एकाध ही है।

कुछ लोगों को 'गणदेवता' में काव्यत्व की कमी मिल सकती है, कारण कि इसमें कवि चिंतनशील वा बौद्धिक विशेष लक्षित होता है। फिर भी 'मेव प्रिया की पिपासा', 'पनघट' आदि रचनाओं में काव्यत्व प्रभूत मात्रा में है। **शिवनाथ**

आजकल—एक वर्ष से दिल्ली के 'संयुक्त प्रकाशनालय' द्वारा 'आजकल' मासिक पत्रिका प्रकाशित हो रही है। आरंभ से ही यह जिस सज्जजन के साथ निकल रही है वह हिंदी-संसार से अप्रकट नहीं है। हिंदी के प्रतिष्ठित साहित्यकारों का सहयोग भी इसे प्राप्त है, अतः प्रायः प्रत्येक अंक में उच्च कोटि की कुछ न कुछ सामग्री मिलती है। मई में इसका 'वार्षिक अंक' प्रकाशित हुआ है, जिसमें श्रेष्ठ साहित्यकारों की कविताएँ, कहानियाँ, नाटक और साहित्य तथा साहित्येतर अनेक विषयों पर प्रामाणिक लेखकों के लेख संगृहीत हैं। जिस साजसजापूर्वक यह अंक प्रकाशित हुआ है वह हिंदी की पत्र-पत्रिकाओं के संचालकों के लिये अनुकरणीय है।

पत्रिका के प्रधान संपादक श्री अनंत मराल शास्त्री, उनके सहयोगी तथा चित्रकार श्री ब्रह्मदेव शर्मा बघाई के पात्र हैं, जिनके अध्यवसाय से इतना आकर्षक वार्षिक अंक प्रकाशित हुआ है। विश्वास है कि शास्त्री जी के संपादकत्व में यह पत्रिका उत्तरोत्तर उत्कृष्ट होती जायगी।

भारत-कला-भवन

(प्रगति-वृत्तांत)

भारतवर्ष में आज भारत-कला-भवन यथेष्ट लोकविदित है। स्वदेश में ही नहीं वरन् विदेशों में भी इसने अपनी प्रसिद्धि का विस्तार कर लिया है। भारतीय कला के प्रसंग में स्वदेशी अथवा विदेशी कलाविदों ने इसका अनेक बार नामोल्लेख किया है। कला-भवन में भारतीय कला के विभिन्न अंगों की उच्च कोटि की वस्तुएँ संगृहीत हैं। कुछ वस्तुएँ तो ऐसी हैं जिन्हें संग्रह करने का सौभाग्य इसी संस्था को प्राप्त हुआ है। संग्रह करते समय कला-भवन की दृष्टि सदैव भारतीय वा राष्ट्रीय संस्कृति, इतिहास और कला-कौशल पर रही है। कला-भवन को अपने लक्ष्य की प्राप्ति में भारतीय कलाकारों तथा कलाविदों का सहयोग बराबर मिलता आ रहा है। विश्वकवि स्वर्गीय रवींद्रनाथ ठाकुर, स्वर्गीय महाराज सयाजीराव गायकवाड़, स्वर्गीय डा० एनीबेसेंट, स्वर्गीय पंडित मोतीलाल नेहरू, स्वर्गीय श्री काशीप्रसाद जायसवाल, स्वर्गीय श्री जयशंकर 'प्रसाद', आदि तथा सर्वश्री पंडित जवाहरलाल नेहरू, अरुनींद्रनाथ ठाकुर, अर्द्धेंद्रकुमार गांगुली, ई० बी० हवेल, एन० सी० मेहता आदि कला-भवन की समृद्धि में उत्साहपूर्वक योग देते रहे हैं।

सांस्कृतिक, ऐतिहासिक, साहित्यिक, कला-कौशल संबंधी आदि वस्तुओं के संग्रह में उनकी प्राचीनता, प्रामाणिकता, श्रेष्ठता, काल एवं शैली के प्रतिनिधित्व आदि पर दृष्टि रखी गई है। कला-भवन के निम्नलिखित प्रमुख विभाग हैं—चित्र, पुरातत्त्व, मूर्ति, मुद्रा और साहित्य।

चित्र-विभाग—इस विभाग में भारतीय चित्र-कला की लगभग सभी शैलियों—जैसे—पाल, अपभ्रंश, कश्मीरी, बसौली, पहाड़ी, राजस्थानी, मुगल, दक्की, ईरानी, पटना (कंपनी), आधुनिक, रोमिक आदि तथा नेपाली एवं तिब्बती—के उत्तमोत्तम चित्र पर्याप्त संख्या में संगृहीत हैं, जो अपनी-अपनी शैली के विशिष्ट उदाहरण हैं। **दास्तान अमीर हमजा का चित्र**—दास्तान अमीर हमजा के आधार पर अकबर ने सन् १५६०-७५ ईसवी के लगभग १४०० चित्रपट प्रस्तुत करवाए थे, जिसमें से भारत में यही एक चित्र रह गया है। इसकी माप लगभग २८ X २४ इंच है। इसके अतिरिक्त कला-भवन के ये विशिष्ट चित्र देश-विदेश में प्रसिद्ध और प्रकाशित हैं—गाय रूपी पृथ्वी का पीछा करते हुए पृथु का मुगल कालीन चित्र। जहाँगीर का उद्यानसेवन, संत शेखफूल (चित्रकार-बिसनदास), दाराशिकोह का तुलादान, शाहजादा मुराद तथा नजरमुहम्मद की मुलाकात, मुहम्मद शुजा का रेखा-चित्र (चित्रकार-राव चतरमन), तालपत्र पर लिखे तथा चित्रित पाल कालीन बौद्ध

ग्रंथ, पहाड़ी और राजस्थानी शैली के चित्रित ग्रंथ तथा चित्रावलियाँ, नेपाली और तिब्बती चित्रपट । ऊपर वर्णित जहाँगीर का उद्यानसेवन, राज तालपत्र पर लिखा प्रज्ञा-पारमिता के अतिरिक्त अधिकांश पहाड़ी, बसौली तथा राजस्थानी शैलियों के चित्र पिछले पाँच छः वर्षों में खरीदे गए हैं, जिनका संक्षिप्त विवरण देना भी स्थानाभाव के कारण कठिन है ।

पुरातत्त्व-विभाग—इस विभाग में पाँच छः वर्ष पूर्व भारत सरकार द्वारा प्रदत्त मोहेंजोदड़ो की कई सौ वस्तुएँ प्रमुख हैं । इस संग्रह के अतिरिक्त विभिन्न स्थानों से प्राप्त मौर्य, शुंग, कुशाण, गुप्त आदि काल की मृणमूर्तियाँ तथा अन्य उत्तमोत्तम और महत्त्वपूर्ण वस्तुएँ हैं । इनमें से कितनी ही प्रकाशित भी हो चुकी हैं । पुरातत्त्व के विद्वानों ने इस विभाग की बड़ी सराहना की है और अध्ययन के लिये बहुत उपयोगी माना है ।

कला-भवन में संगृहीत मूर्तियाँ भी विशिष्ट एवं महत्त्वपूर्ण हैं । कुछ मूर्तियाँ तो भारतीय कला के प्रामाणिक ग्रंथों में प्रकाशित हो चुकी हैं । इनमें से 'प्रसाधिका' प्रमुख है । यह चित्तीदार लाल पत्थर की लगभग तीन फुट ऊँची कुशाण कालीन मूर्ति अपनी शैली एवं काल का सर्वोत्तम उदाहरण मानी गई है । दूसरी कार्तिकेय की गुप्त कालीन मूर्ति भी अप्रतिम है । इसी भाँति भारत सरकार द्वारा प्रदत्त गोवर्धन-धारी श्री कृष्ण की गुप्त कालीन विशाल मूर्ति उक्त काल की सौम्य कला का बहुत अच्छा नमूना है । लगभग तीन वर्ष हुए कला-भवन ने बुद्ध की गुप्त कालीन दो बहुत सुंदर मूर्तियाँ खरीदी हैं, जिनमें से एक विशाल एवं विशिष्ट है । यह मूर्ति मूर्तिमंदिर में प्रतिष्ठित की गई है, इसके लिये भारत सरकार ने एक सुंदर छत्र भी प्रदान किया है ।

कला-भवन में मृणमूर्तियाँ तो अत्यधिक हैं । इनमें उत्तरी भारत के लगभग बीस प्रमुख क्षेत्रों तथा बर्मा के भी नमूने हैं । कौशांबी-संग्रह में अधिकांश उत्तर शुंग तथा कुशाण काल की मृणमूर्तियाँ हैं, जिनसे तत्कालीन संस्कृति के अनुशीलन में बहुत सहायता मिलती है । इन सबमें से वासवदत्ताहरण का शुंग कालीन टिकरा काल एवं इतिहास दोनों दृष्टियों से विशेष महत्त्वपूर्ण तथा प्रसिद्ध है ।

पुरातत्त्व संबंधी अन्य महत्त्वपूर्ण संग्रह राजघाट से प्राप्त वस्तुओं का है । डफरिन ब्रिज के जीर्णोद्धार तथा काशी स्टेशन को बढ़ाने के सिलसिले में ईस्ट इंडियन रेलवे ने सन् ४० के आरंभ से राजघाट तूदे के गंगा किनारेवाले अंश को खुदाना प्रारंभ किया । इस खुदाई से अत्यधिक संख्या में मृणमूर्तियाँ तथा पुरातत्त्व संबंधी अन्य उपयोगी वस्तुएँ निकलने लगीं । सूचना मिलने पर भारत-कला-भवन की ओर से उनके संग्रह का प्रयत्न किया गया । इसमें कला-भवन को यथेष्ट सफलता मिली और वह विशाल संग्रह एक बड़े नए कमरे में भली भाँति प्रदर्शित कर दिया गया है । इन वस्तुओं से लगभग पंद्रह सौ वर्ष पूर्व की काशी नगरी के रहन-सहन तथा उसकी समृद्धि आदि की बहुत सी बातें ज्ञात हुईं । इन मृणमूर्तियों में अधिकांश मानव मस्तक हैं जिनमें तत्कालीन केश-रचना के ही सैकड़ों प्रकार अंकित हैं । वर्तन भाँड़ों

भारत-कला-भवन

१६३

से वर्तमान पात्रों का उद्गम तथा सादृश्य ज्ञात होता है, साथ ही उनकी रचना से उस समय के आचार तथा स्वास्थ्य संबंधी प्रणाली का अच्छा परिचय मिलता है।

इसी खुदाई से गहरवार महाराज गोविंदचंद्रदेव का कार्तिकी पूर्णिमा संवत् ११६७ का बड़े आकार के दो पत्रोंवाला ताम्रशासन भी मिला था, जिसे भारत सरकार ने कला-भवन को प्रदान कर दिया है और अब वह 'राजघाट-मंदिर' में अनुवादसहित प्रदर्शित है। वहाँ से प्राप्त अन्य महत्त्वपूर्ण वस्तुएँ जैसे—मृगमूर्तियाँ, मनके, पत्थर की छोटी मूर्तियाँ आदि भी इसी मंदिर में प्रदर्शित हैं, और बहुत बड़ी बड़ी मूर्तियाँ 'राजघाट-वीथी' में सजा दी गई हैं। राजघाट से प्राप्त मृगमुद्राओं का भारत, विशेषतः काशी, के इतिहास में बहुत महत्त्वपूर्ण स्थान है। इनमें शासकों से लेकर राजकर्मचारियों, वणिकों, संस्थाओं, मंदिरों, मठों आदि तथा अन्य राष्ट्रों एवं उनके प्रतिनिधियों तक की मुद्राएँ हैं।

सिक्कों का संग्रह यद्यपि पूर्णतः विकसित नहीं है तथापि महत्त्वपूर्ण सिक्कों की संख्या कम नहीं है और इनमें से कुछ डा० काशीप्रसाद जायसवाल तथा अन्य विद्वानों द्वारा प्रकाशित किए जा चुके हैं।

अन्य ऐतिहासिक सामग्री में विभिन्न स्थानों से प्राप्त विभिन्न काल के मनकों, धातु की वस्तुओं तथा मध्य कालीन वस्तुओं का बहुत अच्छा संग्रह है, और ये सब वस्तुएँ, स्थान की संकीर्णता होते हुए भी, प्रदर्शित हैं।

साहित्य-विभाग—इस विभाग में भारतेंदु-काल से लेकर अब तक के साहित्यिकों की अनेक पांडुलिपियाँ और पत्र आदि संग्रहीत हैं। स्थानाभाव होते हुए भी इनमें से चुनी हुई चीजें प्रदर्शित हैं जिनसे भारतेंदु-काल से आज तक के हिंदी के विकास की मूर्तिमान् भाँकी मिलती है।

कला-भवन के लिये पंद्रहवीं-सोलहवीं शती से लेकर अठारहवीं शती के मध्य तक के ऐतिहासिक, साहित्यिक, सुधारक आदि लगभग सौ व्यक्तियों के चित्रों की एक चित्र-माला तैयार कराई जा रही है, जिसमें कुछ चित्र प्रस्तुत भी हो चुके हैं। यह कार्य स्वर्गीय उस्ताद रामप्रसाद के होनहार पुत्र श्री शारदाप्रसाद से कराया जा रहा है। इन्होंने अपनी कुलगत मुगल-शैली की धारा को पूर्णतः अन्तुर्गण रखा है।

कला-भवन की वस्तुओं की उपयोगिता तथा इनके महत्त्व के कारण इनकी प्रतिकृति, फोटोग्राफ आदि की माँग पिछले चार-पाँच वर्षों में अत्यधिक रही। भारत के प्रमुख संग्रहालय, जैसे—मद्रास, बंबई, लखनऊ तथा कितने ही धनी-मानी सज्जनों ने तो मूर्तियों के डार (कास्ट) भी लिए। साहित्यिक वस्तुओं की विशेष प्रक्रिया द्वारा उसी आकार-प्रकार की प्रतिच्छवि तैयार कराने का आधुनिकतम सफल प्रयोग हो चुका है। अब सामान्य फोटोग्राफ के बदले आवश्यकता पड़ने पर लोगों को ऐसी प्रतिच्छवि देने की व्यवस्था की गई है जिससे अन्वेषण कार्य में अधिक सुविधा हो।

१६४

नागरीप्रचारिणी पत्रिका

कला-भवन की ओर से पिछले पाँच छः वर्षों में यथावसर विभिन्न वस्तुओं की प्रदर्शनियाँ सफलतापूर्वक अयोजित की जा चुकी हैं।

कला-भवन की अब तक की समृद्धि और प्रगति सरकार तथा कला-प्रेमी धनी-मानी सज्जनों की आर्थिक सहायता का ही फल है। सन् १९४० के आरंभ से सन् ४५ तक कला-भवन को निम्नलिखित सरकारी सहायता एवं दान प्राप्त हो चुके हैं—

८२००) सरकारी सहायता

७५००) अब तक की २५००) प्रति वर्ष के हिसाब से आवर्तित वार्षिक सहायता

३४३०७।६ अन्य दान तथा आवर्तित सहायताएँ

५०००७।६ कुल जोड़

कला-भवन की इस प्रगति से उसके राष्ट्रोपयोगी कार्यों में संलग्नता का पूर्ण परिचय नहीं तो आभास मिल ही गया होगा। यह उत्तरोत्तर उन्नति के पथ पर बढ़ता चलेगा, इसमें भी संदेह नहीं। अब कला-भवन इतना आगे बढ़ चुका है कि उसके संमुख बराबर नवीन आवश्यकताएँ भी आती जा रही हैं, जिनकी पूर्ति के लिये अर्थ की कमी तथा उसके स्वतंत्र भवन का न होना संप्रति अत्यधिक खल रहा है। अर्थ की कमी के कारण कला-भवन अनेक आवश्यक विभागों की स्थापना तथा उनका प्रसार नहीं कर पा रहा है। स्वतंत्र भवन के न होने के कारण अपनी समग्र वस्तुओं का प्रदर्शन भी वह नहीं कर पाता।

कला-भवन में जिन अत्यंत उपयोगी एवं महत्त्वपूर्ण विभागों की तत्काल आवश्यकता है उनमें से दो तो ऐसे हैं जिनका दूसरे प्रकार से काम चलाना अत्यंत व्यय-साध्य एवं कभी कभी तो असंभव सा होता है। ये हैं—(१) रासायनिक प्रक्रिया द्वारा वस्तुओं की सफाई, संरक्षण आदि के लिये आवश्यक वैज्ञानिक द्रव्यों, साधनों से पूर्ण एक उपचार-गृह तथा (२) सब प्रकार के फोटोग्राफी संबंधी कार्यों के लिये तत्संबंधी वस्तुओं और साधनों से पूर्ण एक फोटोग्राफी-भट्टडियो। इन दोनों के न होने से बहुत सी वस्तुओं का आवश्यक संरक्षण, अध्ययन तथा प्रचार अभी तक नहीं हो सका है।

भारतीय कलाओं तथा पुरातत्त्व संबंधी पुस्तकों से युक्त विशेष अध्ययन के निमित्त कला-भवन का अपना पुस्तकालय भी है, किंतु इसमें पुस्तकों की बहुत कमी है। कला-भवन अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये सतत प्रयत्नशील रहा है, इस प्रयत्न में उसे बराबर सफलता मिल रही है। किंतु ऐसी सांस्कृतिक संस्था के पूर्ण विकास के लिये देश का सहयोग परमावश्यक है।

सभा की प्रगति

हस्तलिखित हिंदी पुस्तकों की खोज—का कार्य इस वर्ष गोरखपुर, इलाहाबाद और गाजीपुर जिलों में होता रहा। पूर्वोक्त दो जिलों से १६८ और अंतिम जिले से ३६ ग्रंथों के विवरण लिए गए। इन २०७ ग्रंथों में से ३२ ग्रंथों के रचयिताओं के नाम ज्ञात नहीं हो सके, शेष १७५ ग्रंथ ११६ रचयिताओं द्वारा निर्मित हैं।

काँकरोली के विद्याविभाग ग्रंथ भंडार के हस्तलिखित ग्रंथों के विवरण लेने का कार्य भी यथापूर्व होता रहा और १०० ग्रंथों के विवरण इस वर्ष और लिए गए।

अनुशीलन-विभाग—के तत्त्वावधान में श्री बटेकृष्ण बी० ए० (ग्रानर्स), एम०.ए०, विभागाध्यक्ष श्री विश्वनाथप्रसाद मिश्र के निर्देशानुसार कार्य करते रहे। रस, वस्तु और वर्णन आदि अनेक दृष्टियों से भारतीय प्रेम-प्रबंधों की छानबीन करने पर अनेक महत्त्वपूर्ण उपलब्धियाँ हुई हैं। कई प्राचीन और महत्त्वपूर्ण प्रेम-प्रबंध भी मिले हैं, जिनमें से 'छिताई वार्ता' की ऐतिहासिक छानबीन करने पर अनेक नई बातों का पता चला है।

प्रकाशन—युद्धकाल में सभा का प्रकाशन-कार्य प्रायः रुका रहा। तदनंतर कायद की सुविधा हो जाने पर सभा ने व्यवस्थित रूप से कार्य-संचालन के लिये प्रकाशन-संबंधी जो योजना निश्चित की थी उसके अनुसार निम्नलिखित पुस्तकें छप गई हैं—रेडियो, चंद्रसारणी, त्रिवेणी, हिंदी-निबंधमाला भाग १, हिंदुस्तानी शिष्टाचार, प्रथम हिंदी व्याकरण, रानी केतकी की कहानी, हिंदी-साहित्य का इतिहास, नासिकेतोपाख्यान और संक्षिप्त हिंदी-शब्दसागर।

निम्नलिखित पुस्तकें छप रही हैं—बाल मनोविज्ञान, रस-मोमांसा, हिंदी-साहित्य का इतिहास, रत्नाकर भाग १, भारतीय वास्तुकला, कला-भवन की सूची और हस्तलिखित हिंदी पुस्तकों का संक्षिप्त विवरण।

इंडियन प्रेस से संबन्ध-विच्छेद हो जाने के कारण पुस्तकों की बिक्री के लिये विशेष व्यवस्था भी की गई है।

साहित्य-गोष्ठी और 'प्रसाद' व्याख्यान-माला—के अंतर्गत ३० श्रावण को गोस्वामी तुलसीदास की जयंती काशी की प्रमुख साहित्यिक संस्थाओं और विद्वानों के सहयोग से मनाई गई। २६ मार्गशीर्ष को श्री कृष्णदेवप्रसाद गौड़ की स्वर्ण-जयंती मनाई गई। २५ माघ को स्वर्गीय आचार्य रामचंद्र शुक्ल के तैलचित्र का उद्घाटन श्री अंबिकाप्रसाद वाजपेयी के सभापतित्व में श्री श्यामाचरण दे महोदय के हाथों संपन्न हुआ। 'प्रसाद' व्याख्यान-माला के अंतर्गत 'काशी के प्राचीन इतिहास की नवीन सामग्री' के संबंध में डा० वासुदेवशरण अग्रवाल का विद्वत्पूर्ण भाषण सभा-भवन में हुआ।

पश्चिम भारत हिंदी-प्रचार—ज्वालापुर (हरिद्वार) में परिव्राजक स्वामी सत्यदेव प्रदत्त सत्यज्ञान-निकेतन इस सभा का प्रचार-केंद्र है। गत वर्ष के अंत में अर्द्धकुंभी के अवसर पर वहाँ जो स्थानीय प्रचार-कार्य हुआ था उसके बाद ही श्री जगदीशचंद्र ने पंजाब और कश्मीर प्रांतों की यात्रा की एवं कई सभाओं का आयोजन कर हिंदी-भाषा और नागरी लिपि की महत्ता और उनके व्यावहारिक उपयोग के संबंध में भाषण दिए। लाहौर और अमृतसर की विभिन्न संस्थाओं, स्कूलों और कालिजों में भी उन्होंने प्रचार-कार्य किया। कनखल निवासियों के अनुरोध पर सभा की ओर से एक पुस्तकालय वहाँ इस वर्ष स्थापित किया गया, जिसके लिये श्री वेणीप्रसाद जिज्ञासु ने अपना भवन देने की कृपा की है।

देवनागरी लिपि में संस्कार और संशोधन—आवश्यक हैं वा नहीं, इस पर विचार करने के लिये गत वर्ष जो उपसमिति संघटित हुई थी उसके दो अधिवेशन हुए, किंतु उपसमिति अभी किसी निष्कर्ष पर नहीं पहुँच सकी है। इन अधिवेशनों में जो कार्य हुआ है उस पर देश के विद्वानों की संमति ली जायगी और उन संमतियों पर विचार करने के उपरान्त उपसमिति अपना मंतव्य सभा के समक्ष उपस्थित करेगी।

सभा का ५३वाँ वार्षिक अधिवेशन—२३ चैत्र को हुआ, जिसमें नियम-संशोधन संबंधी निम्नलिखित प्रस्ताव स्वीकृत हुए—

- १—नियम ३४ के पहले वाक्य में 'आय-व्यय-निरीक्षक' और 'होगे' के बीच में 'एक पुस्तकालय-निरीक्षक तथा एक संपत्ति-निरीक्षक' बढ़ाया जाय।
- २—वर्तमान नियम ४७ की नियम-संख्या ४६ की जाय तथा उसके उपरान्त सभी नियम-संख्याएँ इसी क्रम से ठीक की जायँ एवं नवीन नियम ४७ तथा ४८ इस प्रकार रखे जायँ—

'पुस्तकालय-निरीक्षक'—४७—पुस्तकालय-निरीक्षक को आर्यभाषा पुस्तकालय की मुद्रित और हस्तलिखित पुस्तकों की जाँच करनी होगी और उनके संबंध में अपनी संमति लिखनी होगी। उन्हें अधिकार होगा कि सुविधापूर्वक कार्य करने के लिये अपना एक सहायक चुन लें और उसकी सूचना प्रबंध-समिति को दे दें। सहायक-निरीक्षक को भी सभा का सभासद होना आवश्यक होगा और उनकी अवधि पुस्तकालय-निरीक्षक की अवधि के समान होगी।

'संपत्ति-निरीक्षक'—४८—संपत्ति-निरीक्षक को बिक्री-विभाग की पुस्तकों तथा सभा की अन्य चल-अचल संपत्ति की जाँच करनी होगी और उनके संबंध में अपनी संमति लिखनी होगी। उन्हें अधिकार होगा कि सुविधापूर्वक कार्य करने के लिये अपना

१—उपसमिति का कार्य-विवरण सभा के संवत् २००२ के वार्षिक विवरण में प्रकाशित हो रहा है।

सभा की प्रगति

१६७

एक सहायक चुन लें और उसकी सूचना प्रबंध-समिति को दे दें। (सहायक निरीक्षक को भी सभा का सभासद होना आवश्यक होगा और उनकी अवधि संपत्ति-निरीक्षक की अवधि के समान होगी।)'

उक्त वार्षिक अधिवेशन में संवत् २००३ के लिये सभा के निम्नलिखित पदाधिकारी और प्रबंध-समिति के सदस्य चुने गए—

पदाधिकारी (सं० २००३)

सर्वश्री मैथिलीशरण गुप्त (सभापति), सपूर्णानंद (उपसभापति), रायसाहब शिवकुमार सिंह (उपसभापति), रामनारायण मिश्र (प्रधान मंत्री), विश्वनाथप्रसाद मिश्र (साहित्यमंत्री), ब्रजरत्नदास (अर्थमंत्री), रामचंद्र वर्मा (प्रकाशनमंत्री), देवीनारायण ऐडवोकेट (प्रचारमंत्री), जीवनदास (आय-व्यय-निरीक्षक)।

प्रबंध-समिति के सदस्य

(सं० २००२-०५)

सर्वश्री डा० राजेंद्रनारायण शर्मा (काशी), सहदेव सिंह ऐडवोकेट (काशी), केशवप्रसाद मिश्र (काशी), कृष्णानंद (काशी), परमेश्वरीलाल गुप्त (काशी), भगीरथ कानोडिया (बंगाल), नीतीश्वरप्रसाद सिंह (उत्कल), श्रीनारायण चतुर्वेदी (संयुक्तप्रांत), डाक्टर कैलासनाथ भटनागर (पंजाब), गोपालचंद्र सिंह (संयुक्तप्रांत), विद्याधर शास्त्री (बीकानेर), शिवपूजन सहाय (बिहार), रिक्त (ब्रह्मदेश)।

(सं० २००३-०४)

सर्वश्री रामनृषि शुक्ल (काशी), कृष्णदेवप्रसाद गौड़ (काशी), ठाकुरदास ऐडवोकेट (काशी), गोपाललाल खन्ना (काशी), मुरारीलाल केडिया (काशी), घनश्यामदास पोद्दार (बंबई), व्योहार राजेंद्रसिंह (मध्यप्रांत), रावबहादुर सरदार माधवराव वि० क्रिचे (इंदौर, राज्य), डा० धीरेंद्र वर्मा (संयुक्तप्रांत), विश्वेश्वरनाथ वाघे (हैदराबाद, राज्य), शांतिप्रिय आत्माराम (बड़ौदा, राज्य), ना० नागप्पा (सिंहल), सत्यनारायण (मद्रास)।

(सं० २००३)

सर्वश्री अशोकजी (काशी), राय कृष्णदास (काशी), रायसाहब परमानंद (काशी), श्रीनिवास (काशी), मनोरमा सैटिन (काशी), वंशगोपाल फिंगरन (संयुक्तप्रांत), केशवचंद्र शुक्ल (संयुक्तप्रांत), रायसाहब मदनमोहन सेठ (अजमेर, राज्य), मोतीलाल मेनारिया (उदयपुर, राज्य), स्वामी हरिनामदास उदासीन (सिंध), डा० वासुदेवशरण अग्रवाल (दिल्ली), कमलनारायण देव (असम), जी० सच्चिदानंद (मैसूर)।

संपादकीय

तीन दिवंगत साहित्यकार

इधर कई वर्षों से काल की क्रूर दृष्टि हिंदी-साहित्य पर विशेष लगी है। बाबू श्यामसुंदरदास को कवलित किए अभी कम ही दिन हुए थे कि पुरोहित श्री हरिनारायण शर्मा, श्री विश्वंभरनाथ शर्मा 'कौशिक' तथा श्री जगन्नाथप्रसाद 'भानु' को भी वह उठा ले गया।

पुरोहित श्री हरिनारायण शर्मा

पुरोहित श्री हरिनारायण शर्मा बी० ए०, विद्याभूषण के निधन से हिंदी-जगत् जैसे महान् हितैषी से सूना हुआ है उसकी पूर्ति किस प्रकार हो सकेगी, यह कल्पना में नहीं आता। हिंदी के जिस क्षेत्र में वे कार्य कर रहे थे उस क्षेत्र में उनके जैसे ही अध्यवसायी और संग्रह-वृत्ति-संपन्न व्यक्ति की आवश्यकता थी। उनका कार्य-क्षेत्र राजस्थान था, जहाँ प्राचीन हिंदी-साहित्य की बहुत सी सामग्री दबी पड़ी थी, पुरोहित जी द्वारा बहुत से ग्रंथों का उद्धार और उद्घाटन हुआ।

पुरोहित जी की रुचि संत-साहित्य की ओर विशेष थी। उन्होंने संतों के बहुत से ग्रंथ संग्रहीत किए, जो उनके पुस्तकालय में अब भी विद्यमान हैं। उन्होंने सुंदरदास की रचनाओं का संपादन भी 'सुंदर-ग्रंथावली' के नाम से किया है। अनेक ग्रंथों पर आपने विद्वत्तापूर्ण भूमिकाएँ लिखी हैं। आपकी 'रघुनाथ रूपक गीतारो' तथा 'बौकीदास-ग्रंथावली' की भूमिकाएँ मार्मिक होने के कारण बहुत प्रसिद्ध हैं। 'व्रजनिधि-ग्रंथावली', 'महाकवि गंग के कवित्त' तथा ऐसे ही अन्य साहित्यिक ग्रंथों का संपादन भी आपने किया है। आप द्वारा संपादित तथा संग्रहीत कई ग्रंथ अभी अप्रकाशित भी हैं।

लोक-धारणा के अनुरूप आप सच्चे अर्थ में ब्राह्मण थे, अर्थात् लोक-धारणा है कि ब्राह्मण सभी विषयों का ज्ञाता होता है। पुरोहित जी-ऐसे ही ब्राह्मण थे। धर्म, ज्योतिष, वैद्यक, दर्शन, इतिहास आदि विषयों के आप अच्छे जानकार थे और इन विषयों की पुस्तकें भी संपादित की हैं।

हिंदी-भाषा और साहित्य के प्रेम की प्रेरणा से पुरोहित जी ने 'सभा' के लिये जो कुछ किया है वह कभी भुलाया नहीं जा सकता। 'सभा' उसके लिये पुरोहित जी की सदैव ऋणी रहेगी। 'सभा' को जब जब उनकी विद्या-बुद्धि और अर्थ संबंधी आवश्यकता पड़ी तब तब उन्होंने उसकी स्वयं सहायता की और अन्यो से कराई। 'सभा' की 'बालावकश राजपूत चारण पुस्तक-माला' आपके ही उद्योग का फल है।

श्री विश्वंभरनाथ शर्मा 'कौशिक'

श्री विश्वंभरनाथ शर्मा 'कौशिक' हिंदी के पुराने साहित्यकारों में से थे। इनके दिवंगत होने से हिंदी की गहरी हानि हुई है। 'कौशिक' जी पुराने कर्ता होते हुए भी कर्मठ थे। वे अपने जीवन के अंतिम दिनों तक कुछ न कुछ लिखते रहे। अतः इनके द्वारा हिंदी के रत्नागार भरने की अभी बहुत आशा थी।

कौशिक जी पहले उर्दू में लिखते थे—'रागिब' उपनाम से। लगभग सं० १९६६ से वे हिंदी की ओर आकृष्ट हुए और इसके दो वर्ष बाद से तो वे नियमित रूप से हिंदी

संपादकीय

१६६

में ही लिखने लगे। एक बार भेंट होने पर श्री महावीरप्रसाद जी द्विवेदी ने इनसे पूछा कि आपकी रुचि साहित्य के किन अंगों में विशेष है। इन्होंने कहा कि कहानी तथा उपन्यास में। द्विवेदी जी की आज्ञा हुई कि तब इन्हें ही लिखें। कौशिक जी तब से प्रधानतया कथा-वाङ्मय का सर्जन करने में एकनिष्ठता से प्रवृत्त हुए। वैसे तो इनमें विभिन्न-विषय-निर्मात्री प्रतिभा थी और इसी कारण इन्होंने अनुवाद, संकलन आदि का कार्य भी किया। इन्होंने बँगला भाषा से कई ग्रंथ अनूदित किए, जिनके नाम हैं—‘मिलन-मंदिर’ और ‘अत्याचार का परिणाम’ (नाटक)। ‘जारीना’ (रूस की महारानी जारिना का जीवन-चरित), ‘रूस का राहु’ (रासपुटिन की जीवनी) तथा ‘संसार की असम्य जितियों की स्त्रियों’ नामक ग्रंथों का संकलन भी इनके द्वारा हुआ।

‘दुवेजी की चिड़ियाँ’ तथा ‘भारत’ के ‘दुनिया के रंग ढंग’ के रूप में कौशिक जी ने हास्य, व्यंग्य तथा विनोद के क्षेत्र में जो काम किया है वह भी हिंदी-जगत में चिरस्मरणीय रहेगा। इनके द्वारा इन्होंने जीवन और समाज की विषमता पर जो चोटें की है वे बहुत मर्मिक हैं। साहित्यकार जीवन और समाज की दुर्बलता पर श्रोता, पाठक और दर्शक की दृष्टि साहित्यिक ढंग से ले जाता है। ऐसा करके प्रत्यक्ष रूप से और बहुधा परोक्ष रूप से वह उनसे मुक्त होने की प्रेरणा करता है। यह प्रेरणा उसकी महत्ता का संकेत होती है। ऐसा करके ही वह जीवन और समाज के प्रति अपने उत्तरदायित्व का पालन करता है। इस दृष्टि से ‘दुवे जी की चिड़ियाँ’, ‘दुनिया के रंग ढंग’ तथा अपनी कथाओं में भी कौशिक जी इसी रूप में महान् हैं। इन्होंने जीवन और समाज के प्रति अपने कर्तव्य का पूर्णतया पालन किया है।

कथा-वाङ्मय के क्षेत्र में कौशिक जी प्रेमचंद-संप्रदाय के अंतर्गत आते हैं। कथा-निर्माण की कला या उसके साधन की दृष्टि से ये श्री प्रेमचंद के ठीक पास ही प्रतिष्ठित दिखाई पड़ते हैं। कथा-निर्माण की कला से हमारा तात्पर्य रचना-पद्धति, भाषा तथा उसकी शैली से है। परंतु विषय या वस्तु की दृष्टि से इनमें भिन्नता दृष्टिगत होती है। श्री प्रेमचंद ने अपने कथा-वाङ्मय में जीवन तथा समाज के सभी अंगों या पक्षों के चित्र उतारे। इन्होंने जीवन और समाज में जो कुछ देखा सुना उसे अपनी कलम से बाहर नहीं जाने दिया। परंतु कौशिक जी ने अपना क्षेत्र कुछ परिमित ही रखा। इन्होंने जीवन के पारिवारिक पक्ष के चित्र ही प्रधानतया उतारे। बँगला के कथा-वाङ्मय में भी इस पक्ष के चित्रों का प्राधान्य है। परंतु कौशिक जी ने इसके लिये जीवन का जो पक्ष चुना उसमें ये अप्रतिम हैं। पारिवारिक जीवन के उतार-चढ़ाव, उसके विभिन्न रूप, उसमें उठनेवाले मानव मन के अनेक मनोविकार, उसमें रहनेवाले सभी प्रकार के चारित्र्यवाले व्यक्ति आदि सभी को इन्होंने अपनी कथाओं का विषय बनाया।

कहानी-लेखन की ओर कौशिक जी की दृष्टि विशेष थी। इन्होंने कहानियाँ ही अधिक लिखी भी हैं। इनके कहानी-संग्रहों के नाम ये हैं—‘गल्प-मंदिर’, ‘कल्लोल’, ‘चित्रशाला’ (दो भाग), ‘मणिमाला’ और ‘पेरिस की नर्तकी’। उपन्यास इन्होंने तीन ही लिखे—‘माँ’, ‘भिलारिणी’ और ‘संघर्ष’।

१७०

नागरीप्रचारिणी पत्रिका

श्री जगन्नाथप्रसाद 'भानु'

श्री जगन्नाथप्रसाद 'भानु' के स्वर्गारोहण से हिंदी के साहित्य-शास्त्र का एक ज्ञाता उठ गया। हिंदी-साहित्य के आधुनिक इतिहास पर दृष्टिपात करने से विदित होगा कि रीतिकाल के पश्चात् साहित्य या काव्य-शास्त्र का अनुशीलन क्रमशः कम होता गया। भारतेंदु-युग में भी काव्य-शास्त्र के अनुशीलन तथा उसके ज्ञान की ओर रुचि साहित्य-कारों में थी। अनुशीलन की यह परंपरा द्विवेदी-युग के मध्य तक भी यत्र तत्र झलक भर दिखा जाती थी। परंतु इसके बाद काव्य-शास्त्र के अनुशीलन की ओर से लोग एक प्रकार से विमुख ही हो गए। भानु जी द्विवेदी-युग के विशिष्ट साहित्यकारों में से थे। उस युग में जैसे श्री कामताप्रसाद गुरु ने व्याकरण का क्षेत्र चुना वैसे ही भानु जी ने काव्य-शास्त्र का क्षेत्र। कहना न होगा कि ये अपने क्षेत्र में एक ही दिखाई पड़ते हैं। इन्होंने काव्य-शास्त्र में पैठकर उसके वास्तविक अनुशीलन द्वारा अपने ग्रंथों का निर्माण किया। स्मरण यह भी रखना है कि काव्य-शास्त्र संबंधी सभी विषयों—रस, अलंकार, छंद नायिका-भेद—पर आपने ग्रंथ लिखे। काव्य-शास्त्र संबंधी आपके ग्रंथ ये हैं—'रस-रत्नाकर', 'हिंदी-काव्यालंकार', 'अलंकार-प्रश्नोत्तरी', 'अलंकार-दर्पण', 'छंद-प्रभाकर', 'छंदसारावली', 'नायिकाभेद शंकावली', 'काव्य-प्रभाकर' आदि। साहित्य संबंधी आपके और ग्रंथ भी हैं। जैसे—'नव पंचामृत रामायण', 'श्रीतुलसी तत्त्व प्रकाश', 'श्रीतुलसी भाव प्रकाश' आदि।

विचार करने पर विदित होगा कि भानु जी ऐसे व्यक्ति थे जिनकी वृत्ति शास्त्र और विज्ञान की ओर विशेष थी। इसी कारण हम देखते हैं कि साहित्य के शास्त्र-पक्ष की ओर ही ये लगे। गणित में इनकी विशेष रुचि थी। इन्होंने गणित विषयक ग्रंथ भी लिखे हैं। जैसे—'काल-विज्ञान' 'अंक-विलास', 'काल-प्रबोध' और 'ग्रहण-दर्पण'। इस विषय में आपने अंगरेजी में भी ग्रंथ लिखे, जो ये हैं—'की टु परपेचुअल', 'की टु परपेचुअल कैलेंडर बी० सी० कैलेंडर ए० डी०' और 'कांविनेशन परम्यूटेशन फीगर्स'।

भानु जी बहुभाषाविद् भी थे। ये संस्कृत, अंगरेजी, उर्दू, उड़िया, मराठी, छत्तीसगढ़ी आदि भाषाओं के अच्छे ज्ञाता थे। ये उर्दू में भी कविता करते थे। उर्दू के इनके ग्रंथ ये हैं—'गुलजारे सलुन' और 'गुलजारे फैज'।

भानु जी, कौशिक जी तथा पुरोहित जी तीनों अपने अपने क्षेत्र के स्तंभ थे। इनके स्वर्गारोहण से हिंदी की जो क्षति हुई है उसकी पूर्ति किस प्रकार हो सकेगी, यह ध्यान में भी नहीं आता। हम इनके शोकसंतप्त परिवार के साथ समवेदना प्रकट करते हुए ईश्वर से प्रार्थना करते हैं कि वह इन दिवंगत आत्माओं को सद्गति दे।

श्री हरजीमल डालमिया पुरस्कार

भारत के प्रसिद्ध संपत्तिशाली और दानी श्री रामकृष्ण डालमिया ने उपर्युक्त पुरस्कार की व्यवस्था की है। यह पुरस्कार २१००) का होगा और प्रतिवर्ष साहित्य तथा दर्शन के ग्रंथ पर प्रदान किया जायगा—एक वर्ष साहित्य विषयक ग्रंथ पर और दूसरे वर्ष दर्शन विषयक ग्रंथ पर। हम श्री डालमिया जी की साहित्य और विद्या विषयक उदार-शयता का हृदय से स्वागत करते हैं और आशा करते हैं कि वे भविष्य में साहित्य संबंधी अन्य कार्यों तथा अनुष्ठानों में भी इसी प्रकार संलग्न रहेंगे।

काशी नागरीप्रचारिणी सभा

प्राप्य पुस्तकों की सूची

(२)

४—महिला पुस्तक-माला

१—परिचर्या प्रणाली १)

२—सरल व्याकरण १=)

५—भारत-कला-भवन की पुस्तक

१—संगीत समुच्चय २।)

६—सूर्यकुमारी पुस्तक-माला

१, २—अकबरी दरबार
भाग २, ३ ४), २)

३—कर्मवाद और जन्मांतर ३)

४—कदरणा ३)

५—गुलेरी-ग्रंथ, भाग १ १।।)

६—ज्ञानयोग, खंड २ २।।)

७—पाश्चात्य दर्शनों का इतिहास २)

८—बुद्ध-चरित २।।)

९—मुद्राशास्त्र २)

१०—शशांक २।।)

११—सोवियत भूमि ५)

१२—हिंदी की गद्य शैली का विकास २)

१३—हिंदी रसगंगाधर, दो भाग ७।।)

१४—हिंदी-साहित्य का इतिहास ६)

७—देवीप्रसाद ऐतिहासिक पुस्तक-माला

१—अशोक की धर्म लिपियाँ, भाग १ २)

२—अंधकार युगीन भारत ३।।)

३—प्राचीनमुद्रा २)

४—फाहियान का यात्रा-विवरण १)

५—बुंदेलखंड का संक्षिप्त इतिहास ३)

६, ७—महमूद उमरा या
मुगल दरबार, दो भाग ४), ४)

८—मध्यप्रदेश का इतिहास १।।)

९, १०—मुहम्मद नैणसी की
ख्यात, दो भाग ३।।), ४)

११—मोहेंजोदड़ो २)

१२—मौर्यकालीन भारत का
इतिहास २)

१३—सुंगयुन का यात्रा-विवरण १)

१४—सुलेमान सौदागर १।)

१५—हुमायूँनामा १।।)



८—बालाबख्श राजपूत चारण पुस्तक-माला

- १—ढोलामारू दूहा ४)
२, ३, ४—बौकीदास-ग्रंथावली,
तीन भाग ॥), १), १)
५—ब्रजनिधि-ग्रंथावली ३)
६—वीसलदेव रासो ॥)
७—रघुनाथरूपक २)
८—राजरूपक ५)
९—शिखरवंशोत्पत्ति ॥)

९—देव-पुरस्कार-ग्रंथावली

- १—भारत की चित्रकला १), १)
२—भारतीय मूर्तिकला १)

१०—नवभारत ग्रंथमाला

- १—हिंदू राज्यतंत्र, दो भाग ३॥), २)

११—श्री रामविलास पोद्दार स्मारक ग्रंथमाला

- १—अमर जीवन की ओर १)
२, ३—संस्कृत-साहित्य का
इतिहास, दो भाग, ३)
४—विश्व-साहित्य में रामचरितमानस १॥)

१—पुस्तकों के लिये पत्र लिखते समय चौथाई मूल्य अग्रिम और पास के रेलवे स्टेशन का नाम भेजने की कृपा करें।

पुस्तक विक्रेताओं के कमीशन की दर —

रत्नाकर, कोश, हिंदी-व्याकरण और संगीत समुच्चय पर २०%, पाठ्य पुस्तकों पर १५%, शेष पुस्तकों पर २५%।

१२—निकेतन पुस्तक-माला

(परिवाजक स्वामी सत्यदेवलिखित)

- १—देवचतुर्दशी १॥)
२—नई दुनिया के मेरे अद्भुत
संस्मरण १॥)
३—भारतीय समाजवाद की रूपरेखा १)
४—मेरी कैलास-यात्रा १)
५—संजीवनी बूटी भाग १ ॥)

१३—महेंदुलाल गर्ग विज्ञान- ग्रंथावली

- १—कृषि शब्दावली १)
२—रेडियो ॥)

१४—रुक्मिणीदेवी ग्रंथमाला

- १—विगुल ॥)

१५—अन्य पुस्तकें

- १—दादूदयाल की बानी ७॥)
२—धर्म और विज्ञान २)
३—वनिता-विनोद ॥)

१६—नागरीप्रचारिणी पत्रिका (त्रैमासिक)

संवत् १९६३ तक के ॥) प्रति भाग
और उसके बाद के ३) प्रति भाग किंतु चालू
वर्ष की पत्रिका के दाम १०) प्रति भाग।

मुद्रक—बालकृष्ण शास्त्री; ज्योतिष प्रकाश प्रेस, विश्वेश्वरगंज, बनारस।

Compiled
1999-2000

